आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन

जैनतत्वविद्या

आचार्य तुलसी

संपादिका : **साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा**

स्वर्गीय श्री जीतमलजी दूगड़ (सादुलपुर-राजस्थान) की पुण्य स्मृति में
उनके पिता श्री केशरीचन्दजी दूगड़, कलकत्ता
के सौजन्य से प्रकाशित

प्रकाशक : कमलेश चतुर्वेदी, प्रबन्धक : आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राजस्थान) / मूल्य : बारह रुपये / चतुर्थ परिमार्जित संस्करण : १९९१ / मुद्रक : पंकज प्रिंटर्स, दिल्ली-५३

JAIN TATTVAVIDYA *by* Acharya Tulsi Rs. 12.00

स्वकथ्य

जैन तत्वज्ञान जितना गंभीर है, उतना ही वैज्ञानिक है—यह वरिष्ठ विद्वानों का अभिमत है। जैन तत्वज्ञान में वायोलोजी का जितना सूक्ष्म विवेचन है, अन्यत्र दुर्लभ है। जैन तत्वज्ञान के उत्स जैन तीर्थंकर रहे हैं। वे अतीन्द्रियज्ञानी थे, केवलज्ञानी थे। उनके द्वारा निरूपित तत्वज्ञान उनकी सर्वज्ञता का संवादी प्रमाण है। उन्होंने एकेन्द्रिय जीवों से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों का विवेचन किया। पृथ्वीकायिक जीवों से लेकर त्रसकायिक जीवों तक जानकारी दी। एक समय था, जव जैन आगमों में निरूपित तथ्य विज्ञान के क्षेत्र में उपेक्षित रह जाते थे। वर्तमान में उन तथ्यों पर रिसर्च होती है और एक-एक कर अनेक बातें वैज्ञानिकों द्वारा मान्य की जा रही हैं।

जैन आगम तत्वज्ञान के अखूट खजाने हैं। अर्हत्वाणी का सीधा सम्बन्ध तीर्थंकरों से है। वे देशना देते हैं, गणधर उसे गूंथ लेते हैं। यह काम प्राकृत भाषा में होता है। प्राकृत भाषा में निबद्ध आगमों पर प्राकृत और संस्कृत भाषा में व्याख्याएं लिखी गईं। हिन्दी और अंग्रेजी में भी यत्र-तत्र छोटी-बड़ी व्याख्याएं लिखी गईं। प्राकृत और संस्कृत भाषा को जानने वाले लोग कम हैं। एक अपेक्षा का अनुभव हुआ कि हिन्दी भाषा में भी जैन तत्वज्ञान पर कुछ लिखा जाना चाहिए। 'जैन तत्व विद्या' उस अपेक्षा की पूर्ति में उठा हुआ एक कदम है।

पचीस बोल का थोकड़ा वहुत पहले से चलता था। उसकी व्याख्या जीव-अजीव नामक पुस्तक में उपलब्ध है। पूज्य गुरुदेव कालूगणी की जन्मशताब्दी के अवसर पर सौ बोलों का संकलन तैयार किया गया। जो 'कालू तत्वशतक' के नाम से सामने आया। उस पर व्याख्या की आवश्यकता हुई तो 'जैनतत्वविद्या' की पुस्तिका तैयार हो गई।

'कालू तत्वशतक' चार वर्गों में विभक्त है। प्रत्येक वर्ग के पचीस-पचीस वोल हैं। प्रथम वर्ग में जीव तत्व का विवेचन है। दूसरे वर्ग में अजीव तत्व को विस्तार से समझाया गया है। तीसरे वर्ग में नौ तत्वों का विवेचन है और चौथे वर्ग में दार्शनिक तथ्यों का संकलन किया है। प्रस्तुत कृति में एक ओर जीव, अजीव आदि प्रसिद्ध तत्वों का विवेचन है तो दूसरी ओर नय, निक्षेप, प्रमाण आदि दार्शनिक तत्वों का प्रतिपादन भी है। एक दृष्टि से पुस्तक सरल है तो दूसरी दृष्टि से गभीर है। इसका निर्माण करते समय लक्ष्य यह रखा गया है कि सब

प्रकार के पाठक इससे लाभान्वित हों। जैसा लक्ष्य था, उसके अनुरूप इस पुस्तक का उपयोग हुआ। जिन लोगों में जैन तत्वज्ञान के प्रति थोड़ा भी रुझान अथवा जिज्ञासा है, उन सबके लिए यह स्वाध्याय और एकाग्रता का साधन बन रही है। मेरी अन्य कृतियों की भांति इस पुस्तक के संपादन में भी साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा ने पूरे मनोयोग से काम किया है। जैन तत्वज्ञान के जिज्ञासु लोग जैन तत्वज्ञान के भव्य प्रासाद पर आरोहण करने के लिए सोपान के रूप में इसका उपयोग करते रहें, यही अपेक्षा है।

जैन विश्व भारती
लाडनूं (राजस्थान)
१ नवम्बर १९९१

आचार्य तुलसी

जैनतत्त्वविद्या

प्रथम वर्ग

१. राशि के दो प्रकार हैं—

१. जीव राशि   २. अजीव राशि

कालूतत्त्वशतक के चार वर्ग हैं। प्रत्येक वर्ग में पच्चीस-पच्चीस बोलों का संकलन है। २५ × ४ = १००। इन चारों वर्गों में कुल मिलाकर सौ बोल हैं। अन्तिम वर्ग में एक बोल अधिक है। इस दृष्टि से १०१ बोल हो गए हैं। प्रत्येक बोल का स्वतन्त्र अस्तित्व भी है और वे परस्पर संबंधित भी हैं। प्रथम बोल के अनुसार राशि के दो प्रकार हैं—जीव राशि और अजीव राशि। राशि का अर्थ है वर्ग। संसार के सारे पदार्थ—जीव और अजीव, इन दो वर्गों में विभक्त हैं। इन दो वर्गों के अतिरिक्त किसी तीसरे वर्ग की कल्पना भी नहीं हो सकती।

जीव एक तत्त्व है। वह अपने गुण और पर्यायों से सम्पन्न है। उसका अस्तित्व त्रैकालिक है। त्रैकालिक का अभिप्राय है—वह अतीत काल में था, भविष्य में रहेगा और वर्तमान में है। इसी प्रकार अजीव तत्त्व अपने गुण और पर्यायों से सम्पन्न है। जीव की भांति यह भी तीनों कालों से जुड़ा हुआ है। विश्व के पदार्थों का यह एकदम संक्षिप्त वर्गीकरण है। इससे छोटा और कोई वर्ग नहीं हो सकता।

जैन दर्शन में दो प्रकार की दृष्टियां हैं—संक्षेप दृष्टि और विस्तार दृष्टि। दूसरे शब्दों में इन्हें संक्षेपनय और विस्तारनय भी कहा जाता है। उक्त विवेचन संक्षेप दृष्टि या संक्षेपनय के आधार पर किया गया है। जीव और अजीव—ये दोनों नौ तत्त्वों में दो तत्त्व हैं। दोनों तत्त्व अनन्त शक्ति से सम्पन्न हैं। जीव तत्त्व की शक्ति चेतना शक्ति है। चेतना जीव का मुख्य लक्षण है। अजीव तत्त्व चेतना और अनुभूति से शून्य जड़ तत्त्व है। पर विश्व की संरचना में जीव की भांति अजीव का भी पूरा उपयोग है।

२. जीव के दो प्रकार हैं—

१. सिद्ध २. संसारी

संसार में जितने पदार्थ हैं, वे जीव और अजीव इन दो तत्त्वों में समा जाते हैं। यह वर्गीकरण संग्रहनय की दृष्टि से है। इसमें एक दृष्टि से सारा संसार वंध गया। पर यह दृष्टिकोण व्यावहारिक कम है। किसी भी तत्त्व को व्यावहारिक वनाए बिना वह जन-भोग्य नहीं वन पाता। इसलिए उक्त वर्गीकरण को व्यवहार नय की दृष्टि से समझना भी जरूरी है। इस क्रम में हम सवसे पहले जीव तत्त्व को लेते हैं।

जीव के दो प्रकार हैं—सिद्ध और संसारी। एक परमात्मा है और दूसरा आत्मा। एक पूर्ण विकसित है, दूसरा अल्प विकसित। एक निरावरण है, दूसरा सावरण। एक मुक्त है, दूसरा वद्ध। एक विदेह है, दूसरा सदेह। एक अकर्म है, दूसरा सकर्म। एक अक्रिय है, दूसरा सक्रिय। एक जन्म और मरण की परम्परा से अतीत है, दूसरा इस परम्परा का वाहक है। ये दोनों ही चेतना-संवलित हैं, किन्तु इनके स्वरूप में वहुत वड़ा अन्तर है।

सिद्धावस्था आत्मा की शुद्धावस्था है। वहां केवल जीव का ही अस्तित्व है। अनादि काल से आत्मा के साथ चिपके हुए कर्म पुद्‌गल उस स्थिति में टूटकर अलग हो जाते हैं। वहां केवल आत्मा की ज्ञान-दर्शनमयी सत्ता का अस्तित्व है। उस अस्तित्व की पहचान परमात्मा, मुक्तात्मा, सिद्ध, परमेश्वर, ईश्वर आदि अनेक नामों से की जा सकती है।

संसारी आत्मा वह है, जो संसरण करती है—वार-वार जन्म और मरण करती है। संसारी आत्मा का पूर्वजन्म है और पुनर्जन्म होता रहता है। एक इन्द्रिय वाले जीवों से लेकर पांच इन्द्रिय वाले जीवों तक और अनिन्द्रिय (केवलज्ञानी) जीव भी इस वर्ग में समाविष्ट हो जाते हैं। इस वर्ग के जीव अनादिकाल से संसारी हैं और तव तक ससारी ही रहेंगे, जव तक समस्त कर्मों का क्षय करके मुक्त नहीं वन जाएंगे। संसारी जीवों के अनेक वर्ग वन सकते हैं, जिनकी चर्चा हम आगे करेंगे।

३. संसारी जीव के दो-दो प्रकार हैं—

१. व्यवहारराशि	२. अव्यवहारराशि
१. भव्य	२. अभव्य
१. त्रस	२. स्थावर
१. सूक्ष्म	२. बादर
१. पर्याप्त	२. अपर्याप्त

संसारी जीव दो-दो वर्गों में विभक्त होकर कई प्रकार के हो जाते हैं। उनमें एक वर्ग है व्यवहार राशि और अव्यवहार राशि का। व्यवहार का अर्थ है भेद—विभाग। जो जीव अनेक भेदों में विभक्त हैं, वे व्यवहार राशि के जीव हैं। जैसे—एक इन्द्रिय वाले जीव, दो इन्द्रिय वाले जीव, तीन इन्द्रिय वाले जीव, चार इन्द्रिय वाले जीव, पांच इन्द्रिय वाले जीव और अनिन्द्रिय—केवल ज्ञान प्राप्त करने वाले जीव।

व्यवहार शब्द का दूसरा अर्थ है—उपयोग। जो जीव हमारे व्यवहार - उपयोग में आते हैं, वे व्यवहार राशि के जीव हैं, जैसे—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति आदि के जीव।

व्यवहार राशि के जीवों का यह वर्ग बहुत बड़ा है। इस वर्ग के जीव अपने संचित कर्म और पुरुषार्थ के अनुसार भिन्न-भिन्न गतियों में उत्पन्न होते रहते हैं, संक्रांत होते रहते हैं। आज जो जीव मनुष्य हैं, वे कभी पशु, पक्षी, कीड़े आदि बन जाते है और जो कीड़े-मकोड़े हैं, वे कभी मनुष्य बन जातेहैं।

इन जीवों में एक वनस्पति को छोड़कर शेष सब जीव प्रत्येक-शरीरी—एक शरीर में एक जीव वाले होते हैं। वनस्पति साधारण-शरीरी भी होती है। साधारणशरीरी का अर्थ है—एक शरीर में अनन्त जीवों का आवास। ये सब प्रकार के जीव व्यवहार राशि के जीव हैं। जो जीव मुक्त होते हैं, वे अनादिकाल से चले आ रहे आत्मा और कर्मों के सम्बन्ध को विशेष साधना के द्वारा तोड़कर मोक्ष पहुंचते हैं। वे जीव भी इस व्यवहार राशि में ही होते हैं। व्यवहार राशि के जीव संख्या में अनन्त हैं, पर वे अव्यवहार राशिगत जीवनों के अनंतवें भाग में भी नहीं आते हैं।

अव्यवहार राशि जीवों का अक्षय कोष है। ये वे जीव हैं, जिनमें किसी प्रकार का व्यवहार—विभाग नहीं होता। इन जीवों का हमारे लिए कोई उपयोग भी नहीं है। इस जीव-वर्ग में केवल वनस्पति के जीव हैं। वे भी साधारण वनस्पति के। साधारण वनस्पति अर्थात् एक शरीर में अनन्त जीव। इसे निगोद भी कहते हैं। निगोद के जीव दो प्रकार के होते हैं—स्थूल और सूक्ष्म। स्थूल निगोद में पांच प्रकार की काई, कन्दमूल आदि दृश्य शरीर वाले जीव होते हैं। निगोद के सूक्ष्म जीव अव्यवहार राशि के जीव हैं। ये सारे लोक में व्याप्त हैं। ये ऐसे जीव हैं, जो अनादिकाल से जीवों के इसी वर्ग में उत्पन्न होते हैं और मरते हैं। इन जीवों को इस वर्ग से वाहर निकलने का कभी अवकाश ही नहीं मिला।

अव्यवहार राशि के सब जीव समान हैं। इनकी अवगाहना, स्थिति, आहार, उच्छ्वास-निःश्वास आदि में कोई अन्तर नहीं है। इन जीवों के जन्म और मृत्यु भी साथ-साथ घटित होते हैं। ऐसा साम्य जीवों के किसी भी वर्ग में नहीं मिल सकता। इन जीवों का आयुष्य वहुत सूक्ष्म है। विज्ञान की तो वहां तक पहुंच ही नहीं है। एक श्वासोच्छ्वास अर्थात् नाड़ी का एक स्पंदन जितने समय में होता है, उतने छोटे-से काल में ये जीव सतरह वार जन्म लेकर मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। संख्या में ये जीव इतने अनन्त हैं कि इनका कभी अन्त हो ही नहीं सकता।

इस वर्ग के कुछ जीव काललब्धि के योग से व्यवहार राशि में संक्रांत होते हैं। व्यवहार राशि के जीव पुनः अव्यवहार राशि में नहीं जाते। इसका अर्थ यह है कि अव्यवहार राशि से जीवों का निर्यात तो होता है, पर आयात नहीं होता। व्यवहार राशि से जितने जीव मुक्त होते हैं, उनकी क्षतिपूर्ति अव्यवहार राशि से होती रहती है। अव्यवहार राशि के इन जीवों की कभी समाप्त नहीं होने वाली राशि और अनादिकाल से इनको एक ही वर्ग में उत्पत्ति की वात किसी तर्क से प्रमाणित भले ही न हो, पर यह एक ऐसा सच है, जिसे नकारा नहीं जा सकता। यह एक अहेतुगम्य सिद्धांत है। इसी के आधार पर यह कहा जाता है कि संसार कभी जीव-शून्य नहीं होगा। इसलिए अव्यवहार राशि के इस विचित्र जीव-जगत् के संवंध में किसी

प्रकार के संदेह को अवकाश नहीं है।

भव्य-अभव्य

संसारी जीवों के दो-दो वर्गों में दूसरा वर्ग भव्य और अभव्य का है। भव्य का अर्थ है योग्य और अभव्य का अर्थ है अयोग्य। सामान्यतः हर व्यक्ति किसी न किसी बात में योग्य होता ही है, पर यहां योग्यता और अयोग्यता किसी शिल्प या विद्या की नहीं है। क्योंकि इस क्षेत्र में योग्य व्यक्ति भी अभव्य हो सकते हैं। यहां भव्यता और अभव्यता का अर्थ मोक्ष-गमन की योग्यता और अयोग्यता से है।

प्रश्न हो सकता है कि मोक्ष जाने की योग्यता सबमें नहीं होती है क्या? नहीं होती है तो क्यों? एक ही पर्यावरण में जीने वाला एक व्यक्ति मोक्ष-गमन की योग्यता रखता है और दूसरा नहीं। इसका क्या हेतु है?

यह एक निर्हेतुक तथ्य है। इसका कोई कारण नहीं है। चेतना का गुण प्राणी मात्र में होता है, पर उसका सम्पूर्ण विकास कोई-कोई ही कर पाता है। जो प्राणी ऐसा करने की क्षमता रखते हैं, वे भव्य हैं और जिनमें ऐसी क्षमता नहीं होती है, वे अभव्य हैं।

ऐसा क्यों होता है? इस प्रश्न का उत्तर है अनादि पारिणामिक भाव। जो जीव था, वह आज भी जीव है और भविष्य में भी जीव ही रहेगा। यह जीव का अनादि परिणमन है। जो अजीव था, वह अजीव है और अजीव ही रहेगा। यह अजीव का अनादि परिणमन है। इसी प्रकार जो भव्य था, वह भव्य ही रहेगा और अभव्य था, वह अभव्य ही रहेगा। किसी भी प्रयत्न या पुरुषार्थ को अभव्य को भव्य नहीं बनाया जा सकता।

अभव्य जीव कभी भव्य नहीं बन सकता और भव्य जीव मोक्ष जाते रहते हैं। इस स्थिति में एक समय ऐसा भी आ सकता है, जब सब भव्य मोक्ष चले जाएं और संसारी जीवों का वर्ग भव्य-शून्य हो जाए। ऐसा हुआ तो मोक्ष का द्वार बंद हो जायेगा। मोक्ष के अभाव में धर्माराधना का क्या अर्थ होगा? इस प्रश्न के संदर्भ में सामान्यतः इतना ही जान लेना काफी है कि यहां से जितने जीव मुक्त होंगे, वे सभी भव्य ही होंगे। पर संसार में जितने भव्य हैं, वे सभी मुक्त हो जाएंगे, यह संभव नहीं है। क्योंकि जिन भव्य जीवों को वैसी सामग्री

उपलब्ध नहीं होगी, वे अपनी योग्यता का उपयोग नहीं कर पाएंगे।

पत्थर में प्रतिमा बनने की योग्यता होती है, पर सब पत्थर प्रतिमा का आकार नहीं ले पाते। जिन पाषाण-खण्डों को शिल्पी का योग नहीं मिलेगा, वे योग्य होने पर भी प्रतिमा नहीं बन पाएंगे। इसी प्रकार जिन भव्य जीवों को उपयुक्त वातावरण नहीं मिलेगा, वे कभी मुक्त नहीं हो पाएंगे। फलतः जीव-वर्ग कभी भी भव्य जीवों से शून्य नहीं होगा।

त्रस-स्थावर

त्रस का अर्थ है जंगम जीव। जो चलता है, वह जंगम कहलाता है। चलने-फिरने वाला तो पुद्गल भी हो सकता है, पर वह त्रस नहीं होता। कोई-कोई स्थावर जीव भी गतिशील हो सकता है, इसलिए चलता-फिरता है, वह त्रस है, यह परिभाषा पर्याप्त नहीं है। जो जीव सुख पाने के लिए और दुःख से निवृत्त होने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान में गमनागमन कर सकते हैं, वे त्रस हैं। जिन जीवों में सलक्ष्य गमनागमन की क्षमता नहीं होती, वे स्थावर कहलाते हैं। दो, तीन, चार और पांच इन्द्रिय वाले सभी जीव त्रस हैं। एक इन्द्रिय वाले जीव—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति के जीव स्थावर हैं। त्रस और स्थावर—इस वर्ग में संसार के समस्त प्राणियों का समावेश हो जाता है।

सूक्ष्म-बादर

इसके बाद सूक्ष्म और बादर जीवों का एक वर्ग है। बादर का अर्थ है स्थूल। इसमें एक इन्द्रिय वाले जीवों से लेकर पांच इन्द्रिय वाले जीवों तक सभी जीव आ जाते हैं। एकेन्द्रिय जीव सूक्ष्म और बादर दोनों प्रकार के होते हैं। पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि जो जीव दृश्य हैं, वे बादर हैं और जो आंखों के विषय नहीं हैं, वे सूक्ष्म हैं। ऐसे सूक्ष्म जीव समूचे लोक में व्याप्त हैं। आगम की भाषा में—'सुहुमा सव्वलोयम्मि लोयदेसम्मि बायरा' सूक्ष्म जीव समग्र लोक में रहते हैं और बादर जीव लोक के एक भाग में रहते हैं।

त्रस-स्थावर या सूक्ष्म-बादर जीवों को जिस रूप में परिभाषित

किया गया है, वह उनकी व्यावहारिक परिभाषा है। वास्तविक परिभाषा नाम-कर्म के योग से बनती है। नाम-कर्म की अनेक प्रकृतियां हैं। त्रस नाम, स्थावर नाम, सूक्ष्म नाम, बादर नाम प्रकृतियों का उदय जिन जीवों के होता है, वे क्रमशः त्रस, स्थावर, सूक्ष्म और बादर कहलाते हैं। जीवों के इस संसार को समझे बिना अहिंसा का पालन नहीं हो सकता। इसलिए इसको गहराई से समझना जरूरी है।

पर्याप्त-अपर्याप्त

जीव के दो-दो प्रकार करने से जो पांच वर्ग बनते हैं, उनमें अन्तिम वर्ग है पर्याप्त और अपर्याप्त का। अन्य वर्गों की भांति इस वर्ग में भी विश्व के सारे प्राणी समा जाते हैं। समग्र संसार में जितनी जीव-जातियां हैं, वे या तो पर्याप्त होंगी या अपर्याप्त होंगी। तीसरा कोई विकल्प बाकी नहीं रहता है।

सामान्यतः पर्याप्त का अर्थ होता है पूर्ण और अपर्याप्त का अर्थ होता है अपूर्ण। किन्तु यहां इन दोनों शब्दों का विशेष अर्थ है। ये जैन दर्शन के पारिभाषिक शब्द हैं। इनका सम्बन्ध पर्याप्तियों से है। 'भवारम्भे पौद्गलिकसामर्थ्यनिर्माणं पर्याप्तिः' जन्म के आरम्भ में जीवन-यापन के लिए आवश्यक पौद्गलिक शक्ति के निर्माण का नाम पर्याप्ति है। पर्याप्तियां संख्या में छह हैं—आहार पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति, इन्द्रिय पर्याप्ति, श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, भाषा पर्याप्ति और मन पर्याप्ति। इनका विशद विवेचन ग्यारहवें बोल की व्याख्या में उपलब्ध हो सकेगा।

कौन से जीव पर्याप्त हैं और कौन से अपर्याप्त? इस संदर्भ में इतना ही ज्ञातव्य है कि प्रत्येक जीव प्रारम्भ में अपर्याप्त होता है। जिस जन्म में जितनी पर्याप्तियां प्राप्त करनी हैं, उन्हें पूरा पा लेने के बाद जीव पर्याप्त बनता है। अपर्याप्त अवस्था का कालमान बहुत कम है। पर्याप्त हो जाने के बाद जीवन भर वही स्थिति रहती है। अपर्याप्त अवस्था में मृत्यु को प्राप्त होने वाले जीवों को छोड़कर पृथ्वी, पानी आदि सूक्ष्म जीवों से लेकर मनुष्य और देवों तक सभी जीव पहले अपर्याप्त और कालान्तर में पर्याप्त—इन दोनों स्थितियों से गुजरते हैं। केवल सम्मूर्च्छिम मनुष्य की योनि में उत्पन्न होने वाले जीव

अपर्याप्त ही होते हैं। उनके तीन पर्याप्तियां पूर्ण हो जाती हैं, पर चौथी पर्याप्ति को पूरा किए बिना ही वे मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। इसीलिए उनको अपर्याप्त ही माना गया है।

पर्याप्तियों के निर्माण में बहुत कम समय लगता है। लगभग एक मुहूर्त्त के भीतर सब पर्याप्तियों का निर्माण हो जाता है। एक इन्द्रिय वाले जीवों के चार पर्याप्तियां होती हैं। दो, तीन और चार इन्द्रिय वाले जीवों के पांच पर्याप्तियां होती हैं। देवों के मन और भाषा में कोई भेद नहीं रहता, इस दृष्टि से पांच पर्याप्तियां मानी गई हैं। पांच इन्द्रिय वाले तिर्यञ्च, मनुष्य और नारक जीवों के छहों पर्याप्तियां होती हैं।

४. जीव के तीन-तीन प्रकार हैं—

१. स्त्री	**२. पुरुष**	**३. नपुंसक**
१. असंयमी	**२. संयमासंयमी**	**३. संयमी**
१. संज्ञी	**२. असंज्ञी**	**३. नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी**

चौथे बोल में जीव के तीन-तीन प्रकारों के तीन वर्ग हैं। प्रथम वर्ग के तीन प्रकार हैं—स्त्री, पुरुष और नपुंसक। जीवत्व की दृष्टि से ये सभी जीव हैं। इनके प्रकार लिंगभेद के आधार पर हैं। एक इन्द्रिय वाले जीवों से लेकर चार इन्द्रिय वाले जीवों तक सब जीव नपुंसक होते हैं। पंचेन्द्रिय में नरक के जीव, सम्मूर्च्छिम मनुष्य एवं सम्मूर्च्छिम तिर्यञ्च नपुंसक होते हैं। गर्भज मनुष्य एवं तिर्यञ्च—स्त्री, पुरुष और नपुंसक तीनों प्रकार के होते हैं। देवों के स्त्री और पुरुष—ये दो ही प्रकार हैं। वे नपुंसक नहीं होते।

स्त्री, पुरुष और नपुंसक का यह भेद केवल लिंग के आधार पर है। लिंग पहचान का माध्यम है। यह त्याज्य या ग्राह्य कुछ भी नहीं होता। त्याज्य है वेद या विकार, जो आत्मा को विकृत बनाता है। वेद का अस्तित्व आत्मविकास की नौवीं भूमिका (गुणस्थान) तक है। यह बन्धन का हेतु है, इसलिए त्याज्य है। वेद समाप्त होने के बाद भी लिंग का अस्तित्व बना रहता है। जब तक शरीर है, तब तक यानी

आत्मविकास की चौदहवीं भूमिका तक लिंग है। लिंग-जन्य विकार पर विजय प्राप्त होने से ही अग्रिम भूमिकाओं तक पहुंच संभव है। इस दृष्टि से वेद और लिंग का भेद समझ कर साधना के पथ को प्रशस्त करने की अपेक्षा है।

असंयमी, संयमासंयमी, संयमी

जीव के तीन प्रकारों में दूसरा वर्ग है—असंयमी, संयमासंयमी और संयमी। ये भेद साधना के आधार पर किए गए हैं। जो प्राणी संसार से विरक्त होकर विवेकपूर्वक साधना का पथ स्वीकार करते हैं—पांच महाव्रत रूप संयम की साधना करते हैं, वे संयमी कहलाते हैं। संयम की साधना करने वाले केवल मनुष्य हो होते हैं।

जो प्राणी किसी प्रकार की साधना का संकल्प स्वीकार नहीं करते, असंयम के प्रवाह में बहते रहते हैं, वे असंयमी कहलाते हैं।

संयमासंयमी दोनों स्थितियों के बीच की अवस्था है। इसमें न एकान्ततः संयम होता है और न ही एकान्ततः असंयम होता है। यथा-संभव संयम की साधना करने वाले इन प्राणियों में मनुष्य और तिर्यंच दोनों हो सकते हैं।

संज्ञी, असंज्ञी, नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी

जीव के तीन प्रकारों में तीसरा वर्ग है—संज्ञी, असंज्ञी और नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी। संज्ञी का अर्थ है समनस्क। समनस्क जीवों को पांच इन्द्रियों के अतिरिक्त मानसिक संवेदन की क्षमता भी प्राप्त होती है। इस विभाग में केवल पंचेन्द्रिय जीव आते हैं।

जो जीव संज्ञा—मानसिक संवेदन से शून्य होते हैं, वे असंज्ञी कहलाते हैं। एकेन्द्रिय से लेकर संमूर्च्छिम पंचेन्द्रिय तक के जीव इस विभाग में आ जाते हैं।

जो जीव इन्द्रिय और मन के संवेदन से ऊपर उठ जाते हैं, जिन्हें संवेदन की कोई अपेक्षा नहीं रहती, वे नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी कहलाते हैं। ये केवलज्ञानी होते हैं। उनकी ज्ञान चेतना पूर्णतः विकसित हो जाती है। इसलिए मानसिक संवेदन अपने आप में कृतार्थ हो जाता है।

५. जीव के चार प्रकार हैं —

१. नारक ३. मनुष्य
२. तिर्यञ्च ४. देव

नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव—ये चारों प्रकार के जीव जब तक कर्मों से बंधे हुए हैं, संसार में भ्रमण करते रहते हैं, जन्म और मृत्यु की परम्परा को दोहराते रहते हैं। इनका यह परिभ्रमण चार प्रकार की गतियों में होता है। गति का अर्थ है—एक जन्म-स्थिति से दूसरी जन्म-स्थिति को प्राप्त करने के लिए होने वाली जीव की यात्रा। उस यात्रा के पड़ाव चार हैं—नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव। इस दृष्टि से इन्हें चार गति के नाम से भी अभिहित किया जाता है।

नारक

नरक गति में रहने वाले जीव नारक कहलाते हैं। नारक जीवों के आवास-स्थल रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा आदि सात पृथ्वियों के पिण्ड में हैं। ये पृथ्वियां नीचे लोक में हैं। इनमें रहने वाले जीव वहुत अधिक वेदना—कष्ट का वेदन करते हैं। इनकी वेदना तीन प्रकार की होती है —

१. उस क्षेत्र के प्रभाव से होने वाली वेदना।
२. नैरयिक जोवों द्वारा परस्पर लड़ाई-झगड़ा कर उत्पन्न की गई वेदना।
३. परमाधार्मिक देवों के द्वारा दी जाने वाली वेदना।

इन देवों द्वारा दी जाने वाली वेदना तीन नरक भूमियों में होती है। उससे आगे दो ही प्रकार की वेदना रहती है। नारक जीवों का दुःख उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। इन नरकभूमियों में उन जीवों को जाना पड़ता है, जो अत्यन्त क्रूरकर्मा और बुरे विचारों वाले होते हैं। जैन दर्शन के अनुसार रत्नप्रभा नामक पहली पृथ्वी के ऊपर यह मनुष्य लोक है।

तिर्यञ्च

नरक के वाद दूसरी गति का नाम है—तिर्यञ्च गति। इस गति में

रहने वाले जीव संख्या में सबसे अधिक हैं। एक इन्द्रिय वाले जीवों से लेकर चार इन्द्रिय वाले जीवों तक सभी जीव निश्चित रूप से तिर्यञ्च ही होते हैं। इनमें पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति, कृमि, चींटी, मक्खी, मच्छर आदि अनेक जीव हैं। कुछ पंचेन्द्रिय जीव भी तिर्यञ्च होते हैं, जैसे—पशु, पक्षी आदि। इनके अनेक प्रकार हैं, जैसे—मछली आदि जलचर पंचेन्द्रिय हैं। गाय, भैंस आदि स्थलचर पंचेन्द्रिय हैं। पक्षी खेचर पंचेन्द्रिय हैं।

तिर्यञ्च गति में कुछ जीव बहुत शक्तिशाली होते हैं। उनसे मनुष्य भी डरते हैं। उनमें ज्ञान भी होता है। फिर भी उनका विवेक जागृत नहीं होता। इस दृष्टि से तिर्यञ्च गति को अप्रशस्त गति माना गया है।

मनुष्य

चार गतियों में तीसरी गति है—मनुष्य की। मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं—कर्मभूमिज, अकर्मभूमिज और संमूर्च्छिम। कर्मभूमिज मनुष्य कर्म-क्षेत्र में उत्पन्न होते हैं। वे असि, मसि, कृषि आदि साधनों से अपनी जीविका चलाते हैं और अपने पुरुषार्थ का उपयोग करते हैं। अकर्मभूमिज मनुष्य 'यौगलिक' कहलाते हैं। उन्हें अपनी आजीविका के लिए असि, मसि, कृषि आदि का सहारा लेने की अपेक्षा नहीं होती। उनके जीवन-यापन का साधन कल्पवृक्ष होते हैं। उनके जीवन की आवश्यकताएं इतनी न्यूनतम हैं कि कल्पवृक्षों से जो कुछ प्राप्त होता है, वे उसी में सन्तुष्ट हो जाते हैं।

संमूर्च्छिम मनुष्य नाम से तो मनुष्य ही हैं, पर उनमें मनुष्यता जसा कुछ भी नहीं है। मानव-शरीर से विसर्जित मल-मूत्र आदि चौदह स्थानकों में उन जीवों की उत्पत्ति होती है। वे पांच इन्द्रियों से युक्त होते हैं, पर मानसिक संवेदन से रहित होते हैं। मनुष्य गति प्राप्त करने पर भी वे जीव किसी प्रकार का विकास नहीं कर सकते।

एक दृष्टि से मनुष्य सृष्टि का नियंता है। वह एक ओर प्रकृति के अज्ञात रहस्यों की खोज कर संसार को चमत्कृत कर रहा है तो दूसरी ओर अपने शारीरिक और मानसिक सुख के लिए वैज्ञानिक उपकरणों का निर्माण भी कर रहा है। साधना के द्वारा विशिष्ट शक्तियां,

सिद्धियां और लब्धियां प्राप्त करने वाला प्राणी भी मनुष्य ही है। इस शताब्दी के मानव ने तो परखनली में मानव-संरचना का अभूतपूर्व कार्य सम्पन्न कर एक और नया आश्चर्य उपस्थित कर दिया है।

मनुष्य मृत्यु के बाद पुनः मनुष्य रूप में जन्म ले सकता है। वह देव, तिर्यञ्च और नारक भी बन सकता है। इसमें ही वह क्षमता है, जिसके द्वारा वह समूचे लोक को अतिक्रान्त कर लोकशीर्ष पर सिद्धात्मा के रूप में प्रतिष्ठा पा सकता है। यह विशेषता केवल मनुष्य-गति में ही है, इसलिए इसे बहुत महत्त्वपूर्ण माना गया है।

देव

जीव की चार गतियों में अन्तिम गति है—देव गति। जैन आगमों में देवों के चार प्रकार बतलाए गए हैं—भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक। असुरकुमार, नागकुमार आदि भवनपति देवों के आवास नीचे लोक में हैं। पिशाच, भूत, यक्ष आदि व्यन्तर देव और सूर्य, चन्द्रमा आदि ज्योतिष्क देव तिरछे लोक में रहते हैं। वैमानिक देव ऊंचे लोक में रहते हैं। वे दो प्रकार के होते हैं— कल्पोपपन्न और कल्पातीत। बारह देवलोक के देव कल्पोपपन्न होते हैं। उनसे ऊपर नव ग्रैवेयक और पांच अनुत्तर विमान के देव कल्पातीत होते हैं। उनमें स्वामी-सेवक जैसी कोई भेदरेखा नहीं होती। बारह देवलोकों में प्रथम आठ देवलोकों का आधिपत्य एक-एक इन्द्र के हाथ में है। नवमें और दसवें स्वर्ग को एक इन्द्र संभालता है। इसी प्रकार ग्यारहवें और बारहवें स्वर्ग का भी इन्द्र एक ही है। इस क्रम से बारह देवलोकों में दस इन्द्र हो जाते हैं।

देवगति का आयुष्य पूरा करने के बाद कोई भी देव तत्काल पुनः देव नहीं बन सकता। इसी प्रकार नारक जीव भी मृत्यु प्राप्त कर तत्काल नरक गति में उत्पन्न नहीं होता। इन दोनों गतियों के जीवों में पारस्परिक संक्रमण भी नहीं होता—देव नरकगति में उत्पन्न नहीं होते और नारक स्वर्ग में उत्पन्न नहीं होते। मनुष्य और तिर्यञ्च मृत्यु के बाद किसी भी गति में उत्पन्न हो सकते हैं। मोक्ष की प्राप्ति केवल मनुष्य गति से ही हो सकती है।

स्वर्ग और नरक को सभी आस्तिक दर्शनों ने अपनी स्वीकृति दी

है, पर उसके स्वरूप को लेकर काफी मतभेद है। यहां जो विवेचन है, वह जैन दर्शन की मान्यता के आधार पर किया गया है।

६. जीव के पांच प्रकार हैं—

१. एकेन्द्रिय
२. द्वीन्द्रिय
३. त्रीन्द्रिय
४. चतुरिन्द्रिय
५. पंचेन्द्रिय

छठे बोल में जीव के पांच प्रकार बताए गए हैं—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय।

जीव का प्रमुख लक्षण है चेतना। चेतना ऐसा तत्त्व है जो अरूप है, अशब्द है, अगंध है, अरस है और अस्पर्श है। उसके स्वरूप-बोध का प्रकृष्टतम साधन है केवलज्ञान। केवलज्ञान मूर्त ओर अमूर्त सब पदार्थों को जानने और देखने में सक्षम है। मूर्त पदार्थों का ज्ञान दूसरे माध्यमों से भी हो सकता है पर अमूर्त पदार्थ का सर्वाङ्गीण ज्ञान केवलज्ञानी ही कर सकता है।

चेतना अमूर्त है। उसे जानने का साधन केवलज्ञान हमारे पास नहीं है। ऐसी स्थिति में उसका खण्डशः ज्ञान करने में हमारी इन्द्रियां, मन, स्वसंवेदन, अनुमान, आगम आदि ज्ञानधाराएं निमित्त बनती हैं। इन निमित्तों में इन्द्रियां एक प्रबल निमित्त है। इन्द्रियों के आधार पर चेतना की जो अभिव्यक्ति होती है, उसी के आधार पर यहां जीव के पांच प्रकार किए गए हैं।

संसार में जितनी जीव-जातियां हैं, उनमें सबसे कम विकसित चेतना एकेन्द्रिय जीवों की है। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति—ये सब एक स्पर्शन इन्द्रिय वाले जीव हैं। ये न चख सकते हैं, न सूंघ सकते हैं, न देख सकते हैं और न सुन सकते हैं। इनका सारा काम एक स्पर्श के आधार पर चलता है। इस विभाग में संसारी जीवों का इतना बड़ा पिण्ड है, जो गणित की गणना का विषय नहीं हो सकता।

द्वीन्द्रिय जीवों में स्पर्शन और रसन—इन दो इन्द्रियों का विकास होता है। इन जीवों की चेतना इन्हीं दो विन्दुओं पर केन्द्रित है।

इसलिए इनका सारा काम इन दो माध्यमों से हो जाता है। कृमि, शंख, अलसिया आदि अनेक प्रकार के जीव इस विभाग में हैं, जो अपनी स्पर्शन और रसन क्षमता के आधार पर जीवन-यापन करते हैं।

त्रीन्द्रिय जीवों में घ्राण चेतना और विकसित हो जाती है। इस विभाग के जीव त्वचा के द्वारा इष्ट, अनिष्ट की पहचान कर सकते हैं, रसना के द्वारा चख सकते हैं और घ्राण—नासिका के द्वारा सूंघ सकते हैं। इस वर्ग में आने वाले जीव हैं—चींटी, जलौका, जूं, लीख, खटमल आदि।

चतुरिन्द्रिय जीवों में स्पर्शन, रसन और घ्राण चेतना के साथ देखने की क्षमता भी होती है। इनमें केवल सुनने की क्षमता—श्रोत्रेन्द्रिय शेष रहती है। मक्खी, मच्छर, पतंग, भ्रमर आदि जीव चतुरिन्द्रिय कहलाते हैं।

पंचेन्द्रिय जीवों की ऐन्द्रियिक क्षमता पूर्ण रूप से विकसित हो जाती है। स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु के साथ इनको सुनने के लिए कान भी मिल जाते हैं। ये जीव अन्य सब जीवों से उत्कृष्ट हैं, क्योंकि इनकी इन्द्रिय चेतना उनसे अधिक स्पष्ट और परिपूर्ण है। इस विभाग में पशु, पक्षी, नारक, देव और मनुष्य—इन सब प्राणियों का समावेश हो जाता है।

एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी प्राणी संसारी प्राणी हैं। संसरणशील प्राणी में विकास का जो तारतम्य है, उसको अभिव्यक्ति देने वाले अनेक बिन्दुओं में एक बिन्दु इन्द्रिय-चेतना है, इसी दृष्टि से इनके आधार पर जीवों का वर्गीकरण किया गया है।

७. जीव के छह प्रकार हैं—

१. पृथ्वीकायिक
२. अप्कायिक
३. तेजस्कायिक
४. वायुकायिक
५. वनस्पतिकायिक
६. त्रसकायिक

सातवें बोल में जीव के छह प्रकार बताए गए हैं—पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रस-

कायिक। ये छहों प्रकार जैन आगमों में छह जीवनिकाय के रूप में प्रसिद्ध हैं। मुमुक्षु व्यक्ति के लिए इनका बोध होना बहुत जरूरी है। यदि वह इन जीव-निकायों को नहीं जानता है तो उसकी साधना का आधार क्या होगा ? 'पढमं नाणं तओ दया' पहले ज्ञान, फिर अहिंसा। 'धर्म-प्रज्ञप्ति' का यह स्पष्ट संकेत है कि ज्ञान के विना अहिंसा का आचरण नहीं हो सकता। अहिंसा के राज पथ पर चरण बढ़ाने के लिए पृथ्वीकायिक आदि छहों जीव-निकायों को समझना बहुत जरूरी है।

काय का अर्थ है शरीर। पृथ्वी है जिन जीवों का शरीर, वे जीव पृथ्वीकायिक हैं। इस वर्ग में मिट्टी, मुरड़, हीरा, पन्ना, कोयला, सोना, चांदी आदि अनेक प्रकार के जीव हैं। मिट्टी की एक छोटी-सी डली में असंख्य जीव होते हैं। ये जीव एक साथ रहने पर भी अपनी-अपनी स्वतंत्र सत्ता बनाये रखते हैं।

पानी जिन जीवों का शरीर है, वे जीव अप्कायिक हैं। सब प्रकार का पानी, ओले, कुहरा आदि अप्काय के जीव हैं। इन जीवों के शरीर इतने सूक्ष्म होते हैं कि एक-एक शरीर हमें दिखाई ही नहीं देता। पानी की बूंद अप्कायिक जीवों के असंख्य शरीरों का पिण्ड है।

जिन जीवों का शरीर अग्नि है, वे जीव तेजस्कायिक कहलाते हैं। इस जीव-निकाय में अंगारे, ज्वाला, उल्का आदि का समावेश है। पानी की बूंद की भांति अग्नि की एक छोटी-सी चिनगारी में भी अग्नि के असंख्य जीवों के शरीरों का अस्तित्व है।

जिन जीवों का शरीर वायु है, वे जीव वायुकायिक कहलाते हैं। संसार में जितने प्रकार की वायु है, वह इसी काय में अन्तर्गर्भित है। इस काय में भी असंख्य जीव हैं, जो पृथक्-पृथक् शरीर में रहते हैं।

जिन जीवों का शरीर वनस्पति है, वे जीव वनस्पतिकायिक कहलाते हैं। इस काय में रहने वाले जीवों के दो प्रकार हैं—प्रत्येक वनस्पति और साधारण वनस्पति। प्रत्येक वनस्पति के जीव एक-एक शरीर में एक-एक ही होते हैं। एक जीव के आश्रित असंख्य जीव रह सकते हैं, पर उनकी सत्ता स्वतंत्र है।

साधारण वनस्पति में एक-एक शरीर अनन्त जीवों का पिण्ड होता है। सब प्रकार की काई, कन्द, मूल आदि साधारण वनस्पति

हैं।

जिन जीवों के शरीर में सुख प्राप्ति व दुःख-निवृत्ति के लिए घूमने-फिरने की क्षमता है, वे जीव त्रस या जंगम कहलाते हैं। द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी जीव इस विभाग में आ जाते हैं।

इन छह जीव-निकायों के विवेचन से एक प्रश्न उठ सकता है कि पृथ्वी आदि सब जीव हैं और इन्हें उपयोग में लेने से हिंसा होती है। मुनि हिंसा से उपरत होते हैं। उनका काम कैसे चलेगा? प्रश्न सही है। मुनि न तो हिंसा करते हैं और न अपने लिए गृहस्थों से करवाते हैं। इस स्थिति में साधुओं के लिए किसी पदार्थ को निर्जीव नहीं किया जा सकता। किन्तु सहज रूप में गृहस्थ अपने लिए जो खाद्य पदार्थ बनाए, वे निर्जीव और एषणीय हों तो साधुओं के काम आ सकते हैं। शास्त्रों में बताया गया है कि पृथ्वी, पानी आदि तब तक ही सजीव हैं, जब तक ये शस्त्र-परिणत नहीं हो जाते हैं। अग्नि में पकने या अन्य प्रकार की मिट्टी के स्पर्श से मिट्टी जीव रहित हो जाती है। पानी भी उबलने पर जीवरहित हो जाता है। इसी प्रकार वनस्पति भी जीव-रहित हो जाती है। जीवमुक्त होने के बाद इनके उपयोग से किसी प्रकार की हिंसा नहीं होती। जैन दर्शन में जीवनिकायों का जो यह वर्गीकरण किया गया है, वह अपने आप में विलक्षण है।

८. दण्डक के चौबीस प्रकार हैं—

१. सात नारकीय का दण्डक

२-११. भवनपति देवों के दण्डक दस—असुरकुमार आदि।

१२. पृथ्वीकाय का दण्डक
१३. अप्काय का दण्डक
१४. तेजस्काय का दण्डक
१५. वायुकाय का दण्डक
१६. वनस्पतिकाय का दण्डक
१७. द्वीन्द्रिय का दण्डक
१८. त्रीन्द्रिय का दण्डक
१९. चतुरिन्द्रिय का दण्डक
२०. तिर्यंच पंचेन्द्रिय का दण्डक
२१. मनुष्य पंचेन्द्रिय का दण्डक
२२. व्यन्तर देवों का दण्डक
२३. ज्योतिष्क देवों का दण्डक
२४. वैमानिक देवों का दण्डक

संसारी जीव प्रवृत्ति करता है। प्रवृत्ति से कर्म का बन्ध होता है। बंधे

हुए कर्म का फल भोगे बिना उससे छुटकारा नही मिलता। जिन स्थानों में प्राणी अपने किए हुए कर्मों का फल भोगते हैं, वे स्थान दण्डक कहलाते हैं। फल भोगने के लिए जीव चार गति वाले संसार में परि-भ्रमण करते रहते हैं। उन चार गतियों को ही थोड़ा विस्तार देने से चौवीस दण्डक होते हैं।

सात नरक भूमियों में रहने वाले जीवों का एक ही दण्डक होता है। रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, महातमःप्रभा—ये सात पृथ्वियां हैं। इनमें नारक जीव निवास करते हैं। इन सातों पृथ्वियों में सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास का भयंकर दुःख है। वहां रहने वाले नारक जीव आपस में भी एक-दूसरे को दुःख पहुंचाते रहते हैं।

नारक जीवों के बाद भवनपति देवों के दण्डक हैं। उनके दण्डक दस हैं—दूसरे से ग्यारहवें तक। असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिक्कुमार, वायुकुमार और स्तनितकुमार—ये दस प्रकार के भवनपति देव हैं।

भवनपति देवों के आवास रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक भूमि है। यह पृथ्वी १ लाख ८० हजार योजन का पिंड है। इस पिंड का एक हजार योजन ऊपर और एक हजार योजन नीचे का भाग छोड़कर मध्यवर्ती १ लाख ७८ हजार योजन का पिंड है। उसमें १३ प्रस्तट और १२ अन्तर हैं। उन बारह अन्तरों में दो खाली हैं। शेष दस अन्तरों में दस प्रकार के भवनपति देवों के आवास हैं।

यहां एक प्रश्न उठता है कि सात नारकी का दण्डक एक ही माना गया है। उसी प्रकार यहां दस भवनपति देवों का दण्डक एक क्यों नहीं हुआ? प्रश्न अस्वाभाविक नहीं है। इसके उत्तर में इतना ही कहा जा सकता है कि भेद और अभेद का आधार विवक्षा है। विस्तार की विवक्षा में अनेक भेद हो जाते हैं। संक्षेप की विवक्षा में एक ही भेद से काम हो जाता है।

स्थावर जीवों के पांच दण्डक हैं—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय के दण्डक स्वतंत्र माने गए हैं। इस विवक्षा से स्थावर जीवों के पांच दण्डक हो जाते हैं।

इनके बाद आठ दण्डक बतलाए गए हैं। इनमें चार दण्डक तिर्यंचों

हैं।

जिन जीवों के शरीर में सुख प्राप्ति व दुःख-निवृत्ति के लिए घूमने-फिरने की क्षमता है, वे जीव त्रस या जंगम कहलाते हैं। द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी जीव इस विभाग में आ जाते हैं।

इन छह जीव-निकायों के विवेचन से एक प्रश्न उठ सकता है कि पृथ्वी आदि सब जीव हैं और इन्हें उपयोग में लेने से हिंसा होती है। मुनि हिंसा से उपरत होते हैं। उनका काम कैसे चलेगा? प्रश्न सही है। मुनि न तो हिंसा करते हैं और न अपने लिए गृहस्थों से करवाते हैं। इस स्थिति में साधुओं के लिए किसी पदार्थ को निर्जीव नहीं किया जा सकता। किन्तु सहज रूप में गृहस्थ अपने लिए जो खाद्य पदार्थ बनाए, वे निर्जीव और एषणीय हों तो साधुओं के काम आ सकते हैं। शास्त्रों में बताया गया है कि पृथ्वी, पानी आदि तब तक ही सजीव हैं, जब तक ये शस्त्र-परिणत नहीं हो जाते हैं। अग्नि में पकने या अन्य प्रकार की मिट्टी के स्पर्श से मिट्टी जीव रहित हो जाती है। पानी भी उबलने पर जीवरहित हो जाता है। इसी प्रकार वनस्पति भी जीव-रहित हो जाती है। जीवमुक्त होने के बाद इनके उपयोग से किसी प्रकार की हिंसा नहीं होती। जैन दर्शन में जीवनिकायों का जो यह वर्गीकरण किया गया है, वह अपने आप में विलक्षण है।

८. दण्डक के चौबीस प्रकार हैं—

१. सात नारकीय का दण्डक

२-११. भवनपति देवों के दण्डक दस—असुरकुमार आदि।

१२. पृथ्वीकाय का दण्डक
१३. अप्काय का दण्डक
१४. तेजस्काय का दण्डक
१५. वायुकाय का दण्डक
१६. वनस्पतिकाय का दण्डक
१७. द्वीन्द्रिय का दण्डक
१८. त्रीन्द्रिय का दण्डक
१९. चतुरिन्द्रिय का दण्डक
२०. तिर्यंच पंचेन्द्रिय का दण्डक
२१. मनुष्य पंचेन्द्रिय का दण्डक
२२. व्यन्तर देवों का दण्डक
२३. ज्योतिष्क देवों का दण्डक
२४. वैमानिक देवों का दण्डक

संसारी जीव प्रवृत्ति करता है। प्रवृत्ति से कर्म का बन्ध होता है। बंधे

हुए कर्म का फल भोगे बिना उससे छुटकारा नहीं मिलता। जिन स्थानों में प्राणी अपने किए हुए कर्मों का फल भोगते हैं, वे स्थान दण्डक कहलाते हैं। फल भोगने के लिए जीव चार गति वाले संसार में परि-भ्रमण करते रहते हैं। उन चार गतियों को ही थोड़ा विस्तार देने से चौवीस दण्डक होते हैं।

सात नरक भूमियों में रहने वाले जीवों का एक ही दण्डक होता है। रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, महातमःप्रभा—ये सात पृथ्वियां हैं। इनमें नारक जीव निवास करते हैं। इन सातों पृथ्वियों में सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास का भयंकर दुःख है। वहां रहने वाले नारक जीव आपस में भी एक-दूसरे को दुःख पहुंचाते रहते हैं।

नारक जीवों के बाद भवनपति देवों के दण्डक हैं। उनके दण्डक दस हैं—दूसरे से ग्यारहवें तक। असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिक्कुमार, वायुकुमार और स्तनितकुमार—ये दस प्रकार के भवनपति देव हैं।

भवनपति देवों के आवास रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक भूमि है। यह पृथ्वी १ लाख ८० हजार योजन का पिंड है। इस पिंड का एक हजार योजन ऊपर और एक हजार योजन नीचे का भाग छोड़कर मध्यवर्ती १ लाख ७८ हजार योजन का पिंड है। उसमें १३ प्रस्तट और १२ अन्तर हैं। उन बारह अन्तरों में दो खाली हैं। शेष दस अन्तरों में दस प्रकार के भवनपति देवों के आवास हैं।

यहां एक प्रश्न उठता है कि सात नारकी का दण्डक एक ही माना गया है। उसी प्रकार यहां दस भवनपति देवों का दण्डक एक क्यों नहीं हुआ? प्रश्न अस्वाभाविक नहीं है। इसके उत्तर में इतना ही कहा जा सकता है कि भेद और अभेद का आधार विवक्षा है। विस्तार की विवक्षा में अनेक भेद हो जाते हैं। संक्षेप की विवक्षा में एक ही भेद से काम हो जाता है।

स्थावर जीवों के पांच दण्डक हैं—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय के दण्डक स्वतंत्र माने गए हैं। इस विवक्षा से स्थावर जीवों के पांच दण्डक हो जाते हैं।

इनके बाद आठ दण्डक बतलाए गए हैं। इनमें चार दण्डक तिर्यंचों

के हैं—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और तिर्यंच पंचेन्द्रिय। एक दण्डक मनुष्य का है। शेष तीन दण्डक देवों के हैं— व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक।

व्यन्तर देव तिरछे लोक में रहते हैं। उनके आवास हमारी पृथ्वी के नीचे हैं। यह पृथ्वी रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक भूमि की छत के रूप में है। इस छत की मोटाई एक हजार योजन की है। इसमें एक सौ योजन ऊपर और एक सौ योजन नीचे का स्थान खाली है। मध्य में ८०० योजन का स्थान है। वहां व्यन्तर देवों के आवास हैं। वे देव इस पृथ्वी पर पहाड़ों, गुफाओं, वृक्षों तथा सूने घरों में रहते हैं। किन्तु उनके आवास पृथ्वी से नीचे हैं। व्यन्तर देव आठ प्रकार के होते हैं— पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, महोरग और गन्धर्व।

ज्योतिष्क देव भी तिरछे लोक में होते हैं। उनके पांच प्रकार हैं—सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारा। मनुष्य लोक के ज्योतिष्क देव भ्रमणशील हैं। उससे बाहर के सूर्य, चन्द्रमा आदि स्थिर रहते हैं।

ज्योतिश्चक्र से असंख्य योजन की दूरी पर छब्बीस देवलोक हैं। प्रथम बारह देवलोकों में जो देव रहते हैं, उनमें इन्द्र, आत्मरक्षक, लोकपाल आदि अनेक प्रकार के देव होते हैं। इनसे ऊपर नौ ग्रैवेयक देवों के विमान हैं। इन देवों की ऋद्धि और ऐश्वर्य में कोई अन्तर नहीं होता। इन नौ विमानों से ऊपर पांच विमान हैं, जो अनुत्तर स्वर्ग के विमान कहलाते हैं। उनके नाम हैं—विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध। इन सब देवों का दण्डक एक ही है।

ऊपर के देव नीचे के देवों की अपेक्षा स्थिति, प्रभाव, सुख, द्युति लेश्या की विशुद्धि आदि बातों में उत्कृष्ट होते हैं।

भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक— इन चार प्रकार के चौंसठ इन्द्र होते हैं—भवनपति देवों के बीस इन्द्र हैं। दस उत्तर दिशा के और दस दक्षिण दिशा के। व्यन्तर देवों के आठ भेद हैं। आठों ही व्यन्तर देव दो जातियों में बंटे हुए हैं - ऊंची जाति और नीची जाति। इस प्रकार इनकी दो श्रेणियां हो गईं। दोनों श्रेणियों के दक्षिण और उत्तर दिशा में सोलह-सोलह आवास हैं। प्रत्येक आवास का एक-एक इन्द्र होने से इनके बत्तीस इन्द्र हो गए। ज्योतिष्क देवों के दो इन्द्र हैं— सूर्य और चन्द्रमा। वैमानिक देवों के बारह स्वर्ग हैं। उनमें नौवें-दसवें

एवं ग्यारहवें-बारहवें स्वर्गों के इन्द्र एक-एक हैं। इस प्रकार बारह स्वर्गों के दस इन्द्र हैं। कुल मिलाकर ये चौंसठ इन्द्र हैं। ग्रैवेयक और अनुत्तर विमान के सभी देव अहमिन्द्र होते हैं। इनमें छोटे-बड़े का कोई भेद नहीं होता।

जब तक जीव संसार में रहता है, उसे उक्त चौबीस दण्डकों में से किसी एक दण्डक में रहना जरूरी होता है। मुक्त होने वाला जीव ही इन दण्डकों से मुक्त होता है।

९. शरीर के पांच प्रकार हैं—

१. औदारिक — **४. तैजस**
२. वैक्रिय — **५. कार्मण**
३. आहारक

आत्मा अरूप है, अशब्द है, अगन्ध है, अरस है, और अस्पर्श है, इसलिए अदृश्य है। किन्तु मूर्त्त शरीर से बंधी हुई होने के कारण वह दृश्य भी है। आत्मा जब तक संसार में रहेगी, वह स्थूल या सूक्ष्म किसी न किसी शरीर के आश्रित ही रहेगी। आत्मा और शरीर का यह सम्बन्ध अनादिकाल से चला आ रहा है। यहां प्रश्न होता है कि शरीर क्या है? और उसके कितने प्रकार हैं? नौवें बोल में इन्हीं प्रश्नों का समाधान है।

पौद्गलिक सुख-दुःख की अनुभूति का जो साधन है, वह शरीर है। जीव की जितनी प्रवृत्तियां होती हैं, वे शरीर के द्वारा ही होती हैं। शरीर के पांच प्रकार हैं—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण। इनमें औदारिक शरीर सबसे अधिक स्थूल है और कार्मण सबसे अधिक सूक्ष्म। वैक्रिय शरीर औदारिक की अपेक्षा सूक्ष्म होता है, आहारक उससे सूक्ष्म होता है, तैजस और कार्मण उससे भी सूक्ष्म होते हैं।

औदारिक शरीर की निष्पत्ति स्थूल पुद्गलों से होती है। इस शरीर का छेदन-भेदन हो सकता है। यह आत्मा से रहित होने पर भी टिका रहता है। नारक और देवों को छोड़कर एकेन्द्रिय जीवों से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों तक सभी जीवों के औदारिक शरीर होता है। मोक्ष

की प्राप्ति केवल इसी शरीर के द्वारा संभव है।

वैक्रिय शरीर में विविध प्रकार की क्रियाएं घटित होती हैं। यह शरीर छोटा, बड़ा, स्थूल, सूक्ष्म कैसा भी बनाया जा सकता है। मृत्यु के बाद इस शरीर का कोई अवशेष नहीं रहता, वह कपूर की भांति उड़ जाता है। नारक और देवों के यह शरीर सहज होता है। मनुष्य और तिर्यञ्च भी वैक्रिय लब्धि प्राप्त कर इस शरीर का निर्माण कर सकते हैं। वायुकायिक जीवों के स्वाभाविक रूप से वैक्रिय शरीर होता है।

विशिष्ट योगशक्तिसम्पन्न, चतुर्दश पूर्वधर मुनि विशिष्ट प्रयोजन-वश एक शरीर की संरचना करते हैं, उसे आहारक शरीर कहा जाता है। यह शरीर औदारिक और वैक्रिय शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म तथा तैजस और कार्मण की अपेक्षा स्थूल होता है। फिर भी इसकी गति में किसी बाह्य व्यवधान का व्याघात नहीं हो सकता।

जो शरीर दीप्ति का कारण है और जिसमें आहार आदि पचाने की क्षमता है, वह तैजस शरीर है। इस शरीर के अंगो-पांग नहीं होते। यह पूर्ववर्ती तीनों शरीरों से सूक्ष्म है।

पूर्ववर्ती औदारिक आदि चारों शरीरों का कारण है कार्मण शरीर, इस दृष्टि से इसे कारण शरीर भी कहा जाता है। इस शरीर का निर्माण ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार के कर्म पुद्गलों से होता है।

तैजस और कार्मण शरीर मृत्यु के बाद भी जीव के साथ रहते हैं। कोई भी संसारी प्राणी इन दो शरीरों के बिना संसार में रह ही नहीं सकता। इन दोनों शरीरों से छूटते ही आत्मा मुक्त हो जाती है। फिर उसे संसार में परिभ्रमण नहीं करना पड़ता।

१०. इन्द्रिय के पांच प्रकार हैं—

१. श्रोत्रेन्द्रिय
२. चक्षुरिन्द्रिय
३. घ्राणेन्द्रिय
४. रसनेन्द्रिय
५. स्पर्शनेन्द्रिय

प्रत्येक इन्द्रिय के दो-दो प्रकार हैं—

१. द्रव्येन्द्रिय
२. भावेन्द्रिय

द्रव्येन्द्रिय के दो प्रकार हैं—

१. निर्वृत्ति २. उपकरण

भावेन्द्रिय के दो प्रकार हैं—

१. लब्धि २. उपयोग

एक निश्चित विषय का ज्ञान करने वाली आत्म-चेतना इन्द्रिय कहलाती है। ज्ञान आत्मा का धर्म है। चेतना का अभिन्न अंग है। इसलिए आत्मा और ज्ञान के बीच में कोई व्यवधान नहीं रहता। किन्तु जो आत्मा अनावृत नहीं होती, कर्म-पुद्गलों से आबद्ध होती है, उसका ज्ञान भी आवृत रहता है। उस समय ज्ञान करने का माध्यम बनती हैं इन्द्रियां। दसवें बोल में इन्द्रियों की ही चर्चा है। इन्द्रिय के पांच भेद हैं। सब संसारी प्राणियों को ये सब इन्द्रियां प्राप्त नहीं होती। कम-से-कम एक और अधिक-से-अधिक पांच इन्द्रियों का स्वामित्व रखने वाले जीव के पांच प्रकारों की चर्चा छठे बोल में की जा चुकी है। इन्द्रियों की प्राप्ति में शरीर नाम कर्म के उदय तथा दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम का युगपत् योग रहता है।

इन्द्रिय के दो प्रकार हैं—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। कान, नाक, जीभ आदि इन्द्रियों के आकार विशेष को द्रव्येन्द्रिय कहा जाता है। यह आकार-संरचना पौद्गलिक होती है। द्रव्येन्द्रिय के दो रूप हैं—निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय और उपकरण द्रव्येन्द्रिय। निर्वृत्ति का अर्थ है आकार-रचना। वह दो प्रकार की होती है—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य आकार प्रत्येक जीव के प्रत्येक इन्द्रिय का स्वतंत्र होता है। उनमें एकरूपता नहीं होती। किन्तु प्रत्येक इन्द्रिय का आभ्यन्तर आकार निर्धारित है। वह सब जीवों के एक समान होता है। केवल स्पर्शनेन्द्रिय का आकार भिन्न-भिन्न होता है।

द्रव्येन्द्रिय का दूसरा प्रकार है उपकरण द्रव्येन्द्रिय। इन्द्रिय की आभ्यन्तर निर्वृत्ति में अपने-अपने विषय को ग्रहण करने की जो पौद्गलिक शक्ति है, वह उपकरण द्रव्येन्द्रिय है। ज्ञान में उपकारक होने के कारण इसे उपकरण इन्द्रिय कहा गया है। उदाहरण के लिए एक चाकू को प्रतीक बनाया जा सकता है। एक चाकू का निर्माण बाह्य निर्वृत्ति है। चाकू की धार का निर्माण आभ्यन्तर निर्वृत्ति है।

चाकू की धार में छेदन-भेदन की जो शक्ति है, वह है उपकरण द्रव्येन्द्रिय। छेदन-भेदन की शक्ति न हो तो चाकू की कोई उपयोगिता नहीं रहती। इसी प्रकार उपकरण द्रव्येन्द्रिय के क्षतिग्रस्त हो जाने पर निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय का काम रुक जाता है। इसलिए पदार्थ के ज्ञान में आत्म-शक्ति के साथ पौद्गलिक शक्ति का भी अपना मूल्य है।

भावेन्द्रिय के दो प्रकार हैं—लब्धि इन्द्रिय और उपयोग इन्द्रिय। लब्धि इन्द्रिय का अर्थ है ज्ञान करने की क्षमता की उपलब्धि। यह आत्मिक शक्ति है। दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से इस शक्ति की प्राप्ति होती है। आंख में देखने की शक्ति है, कान में सुनने की शक्ति है, नाक में सूंघने की शक्ति है, जीभ में चखने की शक्ति है और त्वचा में स्पर्श करने की शक्ति है। यह लब्धि भावेन्द्रिय है।

शक्ति प्राप्त होने पर भी वह तब तक कार्यकारी नहीं होती, जब तक उसका उपयोग न हो। इसलिए ज्ञान करने की शक्ति और उसे काम में लेने के साधन उपलब्ध करने पर भी उपयोग भावेन्द्रिय के अभाव में सारी उपलब्धियां अकिंचित्कर रह जाती हैं।

चाकू है, उसका आकार अच्छा है, उसकी धार तीक्ष्ण है, हाथ में चाकू चलाने की क्षमता भी है, पर जब तक चाकू चलाने का पुरुषार्थ नहीं होगा, छेदन-भेदन की क्रिया निष्पन्न नहीं हो सकेगी। इसी प्रकार इन्द्रियों के आकार, उनमें निहित पौद्गलिक और आत्मिक शक्ति की सत्ता होने पर भी जब तक जीव उसका प्रयोग नहीं करता है, इन्द्रियां अपने विषय का ग्रहण नहीं कर सकतीं।

उपर्युक्त इन्द्रियों की प्राप्ति का क्रम इस प्रकार है—सबसे पहले लब्धि-इन्द्रिय उसके बाद निर्वृत्ति इन्द्रिय, फिर उपकरण इन्द्रिय और इन सबके बाद उपयोग इन्द्रिय। लब्धि के बिना निर्वृत्ति और उपकरण इन्द्रियां नहीं हो सकतीं और निर्वृत्ति एवं उपकरण के बिना उपयोग इन्द्रिय नहीं हो सकती। लब्धि से उपयोग तक की शृंखला जुड़ी रहने से ही इन्द्रियां अपने-अपने विषय का ग्रहण कर सकती हैं। इनमें से किसी भी तंत्र के विकृत होने पर ज्ञान चेतना और विषय के बीच में व्यवधान उपस्थित हो जाता है।

इन्द्रिय ज्ञान व्यवहित ज्ञान है। यहां आत्मा और पदार्थ के बीच में तीसरे तत्त्व की उपस्थिति रहती है, इसलिए यह परोक्ष ज्ञान है।

अवधिज्ञान, मन:पर्यवज्ञान और केवलज्ञान—ये तीनों अतीन्द्रिय और प्रत्यक्षज्ञान कहलाते हैं। केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद इन्द्रिय-सम्पन्न व्यक्ति भी अनिन्द्रिय बन जाता है। क्योंकि वहां आकार रूप में सभी इन्द्रियों की सत्ता अवश्य है, किन्तु पदार्थ को जानने के लिए उनका उपयोग करने की अपेक्षा नहीं रहती। वहां आत्मज्ञान के आलोक में मूर्त-अमूर्त हर पदार्थ और घटना का प्रतिबिम्ब पड़ता है। उस प्रति-बिम्ब की ग्राहक स्वयं आत्मा होती है, इन्द्रिय नहीं। इस दृष्टि से केवलज्ञानी को अनिन्द्रिय कहा जाता है।

११. पर्याप्ति के छह प्रकार हैं—

१. आहार	४. श्वासोच्छ्वास
२. शरीर	५. भाषा
३. इन्द्रिय	६. मन

संसारी प्राणी किसी भी जीवयोनि में उत्पन्न हो, वह जब तक जीवित रहता है तब तक उसे किसी पुष्ट आलम्बन की अपेक्षा रहती है। वह आलम्बन प्राणशक्ति तो है ही, उसके साथ एक विशिष्ट प्रकार की पौद्गलिक शक्ति भी है, जो पर्याप्ति के नाम से अपनी पहचान कराती है। पर्याप्ति का अर्थ है जीवन धारण में उपयोगी पौद्गलिक शक्ति। यह शक्ति प्राणी उस समय ग्रहण करता है, जब वह एक स्थूल शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को धारण करता है। वहां वह एक साथ अपेक्षित पुद्गल-समूह ग्रहण करता है और उन्हें आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन के रूप में परिणत कर वैसी पौद्गलिक क्षमता अर्जित कर लेता है।

आहार पर्याप्ति का बंध सबसे पहले होता है। इस पर्याप्ति के द्वारा जीव जीवन भर आहार प्रायोग्य पुद्गलों के ग्रहण, परिणमन और विसर्जन करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। शरीर पर्याप्ति के द्वारा शरीर के अंगोपांगों का निर्माण होता है। इन्द्रिय पर्याप्ति त्वचा आदि इन्द्रियों के निर्माण का कार्य सम्पन्न करती है। श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति के द्वारा श्वास-वायु के ग्रहण और उत्सर्जन की क्षमता प्राप्त होती है। भाषा पर्याप्ति भाषा के योग्य पुद्गलों का ग्रहण और

उत्सर्जन करती है। मन पर्याप्ति मनन योग्य पुद्‌गलों के ग्रहण करने और छोड़ने में जीव का सहयोग करती है।

छहों पर्याप्तियों को एक मकान के प्रतीक से अच्छी प्रकार समझा जा सकता है—मकान-निर्माता मकान बनाने की योजना क्रियान्वित करते समय पत्थर, चूना, सीमेंट, काठ आदि सारी सामग्री एकत्रित करता है, इसी तरह सब प्रकार की पौद्‌गलिक सामग्री के संचयन का काम आहार पर्याप्ति का है।

मकान-निर्माता अपनी संगृहीत सामग्री का वर्गीकरण करता है—अमुक पत्थर दीवार में काम आएगा, अमुक काष्ठ कपाट के काम आएगा। इसी प्रकार शरीर के अंगोपांगों के वर्गीकरण का काम शरीर पर्याप्ति का है।

मकान बनाते समय उसमें हवा, प्रकाश आदि के प्रवेश, निर्गमन हेतु तथा आने-जाने के लिए द्वार, खिड़कियां आदि बनाई जाती हैं। इसी प्रकार इन्द्रिय, श्वासोच्छ्‌वास और भाषा पर्याप्ति होती हैं।

मकान बनाने के बाद व्यक्ति आवश्यकता और समय के अनुसार उसका उपयोग करता है। निर्वात कमरों का उपयोग सर्दी में करता है और हवादार कमरों को गर्मी में काम लेता है। यह काम मनः पर्याप्ति का है। कब क्या करना है ? कैसे करना है ? आदि चिन्तन-मनन की समूची शक्ति मनः पर्याप्ति सापेक्ष है।

इन छहों पर्याप्तियों का प्रारम्भ एक साथ होता है और पूर्णता क्रमिक रूप से होती है। आहार पर्याप्ति की पूर्णता एक समय में हो जाती है। शेष पर्याप्तियों को पूर्ण होने में एक-एक अन्तर्मुहूर्त्त जितना समय लगता है। प्राणी की प्रत्येक गतिविधि में इन पर्याप्तियों का पूरा-पूरा सहयोग रहता है।

१२. प्राण के दस प्रकार हैं—

१. श्रोत्रेन्द्रिय प्राण	६. मनोबल प्राण
२. चक्षुरिन्द्रिय प्राण	७. वचनबल प्राण
३. घ्राणेन्द्रिय प्राण	८. कायबल प्राण
४. रसनेन्द्रिय प्राण	९. श्वासोच्छ्‌वास प्राण
५. स्पर्शनेन्द्रिय प्राण	१०. आयुष्य प्राण

प्राण का अर्थ है जीवनी शक्ति। इस शक्ति का सीधा संबंध जीव से है, फिर भी यह पौद्गलिक शक्ति सापेक्ष है। इसीलिए प्राण को परिभाषित करते हुए कहा गया है—'पर्याप्त्यपेक्षिणी जीवन-शक्तिः प्राणाः।' जीवन धारण करने में प्राणशक्ति का उपयोग होता है। प्राणी की प्राण-शक्ति का वियोजन होते ही मृत्यु हो जाती है। यह शक्ति तब प्राप्त होती है, जब जीव जन्म धारण करने के अनन्तर पर्याप्तियां बांध लेता है। इस दृष्टि से प्राण और पर्याप्ति परस्पर संबद्ध हैं।

प्राण संख्या में दस हैं—उनमें पांच प्राणों का संबंध इन्द्रिय पर्याप्ति से है। मनबल, वचनबल और कायबल का संबंध मनः पर्याप्ति, भाषा पर्याप्ति एवं शरीर पर्याप्ति के साथ है। श्वासोच्छ्वास प्राण श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति से जुड़ा हुआ है। आयुष्य प्राण का संबंध आहार पर्याप्ति से है। जब तक ओज आहार रहता है, तब तक आयुष्य बल के आधार पर प्राणी जीवित रहता है। ओज आहार की समाप्ति आयुष्य की समाप्ति है। आयुष्य बल क्षीण होते ही प्राणी की मृत्यु हो जाती है।

संसार में रहने वाले सभी प्राणी सप्राण होते हैं, किन्तु सब प्राणियों के प्राणों की संख्या समान नहीं होती। एक इन्द्रिय वाले प्राणियों में चार प्राण पाए जाते हैं। दो इन्द्रिय वाले जीवों में प्राणों की संख्या छह हो जाती है। तीन इन्द्रिय वाले जीवों में प्राण सात, चार इन्द्रिय वाले जीवों में आठ और पांच इन्द्रिय वाले जीवों में दसों प्राण पाये जाते हैं।

मुक्त आत्माएं सब प्रकार की पौद्गलिक शक्तियों से निरपेक्ष हो जाती हैं, इसलिए उनमें इन दस प्राणों में से एक भी प्राण नहीं पाया जाता। क्योंकि प्राण जीवनी शक्ति होने पर भी अपने निर्माण में पौद्गलिक शक्ति—पर्याप्तियों की अपेक्षा रखते हैं। मुक्त जीव में शुद्ध चेतना मात्र अवशिष्ट रहती है। पुद्गल का प्रभाव वहां सर्वथा क्षीण हो जाता है। इसलिए प्राण की सत्ता केवल संसारी प्राणियों में ही रहती है।

१३. योग के तीन प्रकार हैं—

१. मनोयोग **२. वचनयोग** **३. काययोग**

मनोयोग के चार प्रकार हैं—

१. सत्य मनोयोग	३. मिश्र मनोयोग
२. असत्य मनोयोग	४. व्यवहार मनोयोग

वचनयोग के चार प्रकार हैं—

१. सत्य वचनयोग	३. मिश्र वचनयोग
२. असत्य वचनयोग	४. व्यवहार वचनयोग

काययोग के सात प्रकार हैं—

१. औदारिक काययोग	५. आहारक काययोग
२. औदारिकमिश्र काययोग	६ आहारकमिश्र काययोग
३. वैक्रिय काययोग	७. कार्मण काययोग
४. वैक्रियमिश्र काययोग	

योग शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में होता है। उन अर्थों में दो अर्थ—मिलन और समाधि अधिक प्रसिद्ध हैं। वर्तमान युग में योग एक प्रकार की साधना-पद्धति अथवा आसन प्रयोग के अर्थ में काफी प्रचलित है। जैन शास्त्रों में योग शब्द इन सबसे भिन्न अर्थ में आता है। शास्त्र प्रचलित अर्थ के अनुसार योग को परिभाषित करते हुए 'जैन सिद्धान्त दीपिका' में लिखा गया है—'कायवाङ्मनोव्यापारो योगः। शरीर, वाणी और मन की प्रवृत्ति का नाम योग है। 'कालू तत्त्वशतक' में इसी अर्थ में योग शब्द का प्रयोग हुआ है।

योग शुभ और अशुभ दोनों प्रकार का होता है। उसके सावद्य और निरवद्य—ये दो भेद भी उपलब्ध हैं। पर मूलतः उसके तीन भेद हैं—मनोयोग, वचनयोग और काययोग। योग एक प्रकार का स्पन्दन है, जो आत्मा और पुद्गलवर्गणा के संयोग से होता है। अध्यवसाय, परिणाम और लेश्या भी एक प्रकार से स्पन्दन ही हैं। पर वे अति सूक्ष्म स्पन्दन हैं, इसलिए सामान्यतः पकड़ में नहीं आते। योग स्थूल स्पन्दन है। शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार वीर्यान्तराय कर्म के क्षय या क्षयोपशम नाम कर्म के उदय तथा मन, वचन और कायवर्गणा सापेक्ष आत्मा की जो प्रवृत्ति होती है, वह योग कहलाती है।

पुद्गल-वर्गणा के संयोग से आत्मा में जो स्पन्दन होता है, वह

मूलतः एक ही प्रकार का है, पर विवक्षा या निमित्त भेद के आधार पर उसे तीन रूपों में विभक्त कर दिया गया है। मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति में जो पौद्गलिक शक्ति काम में आती है, वह योग नहीं किन्तु पर्याप्ति है। पर्याप्ति का स्वरूप पिछले पाठ में स्पष्ट हो चुका है। उस पौद्गलिक शक्ति के प्रयोग का नाम योग है।

मन, वचन और काययोग—इन तीन योगों में काययोग प्रत्येक प्राणी में होता है। केवल शैलेशी अवस्था (अयोगी गुण-स्थान) में नहीं होता। संसार भर के प्राणी त्रस और स्थावर इन दो वर्गों में बंटे हुए हैं। स्थावर प्राणियों में केवल काययोग होता है। दो इन्द्रिय वाले जीवों से लेकर चार इन्द्रिय वाले जीवों तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में काययोग और वचनयोग होते हैं। संज्ञी मनुष्य और तिर्यञ्च जीवों में काययोग, वचनयोग और मनोयोग तीनों होते हैं।

मनोयोग

मन हमारी प्रवृत्ति का सूक्ष्म किन्तु प्रमुख कारण है। मन के द्वारा होने वाला आत्मा का प्रयत्न मनोयोग है। उसके चार भेद हैं—सत्य मनोयोग, असत्य मनोयोग, मिश्र मनोयोग और व्यवहार मनोयोग।

सत्य के विषय में होने वाली मन की प्रवृत्ति सत्य मनोयोग है।

असत्य के विषय में होने वाली मन की प्रवृत्ति असत्य मनोयोग है।

सत्य-असत्य के मिश्रण में होने वाली मन की प्रवृत्ति मिश्र मनोयोग है।

मन की जो प्रवृत्ति सत्य भी नहीं है और असत्य भी नहीं है, उस प्रवृत्ति का नाम व्यवहार मनोयोग है। इसका सम्बन्ध मुख्यतः आदेशात्मक, उपदेशात्मक चिन्तन से है।

वचनयोग

भाषा के द्वारा होने वाला आत्मा का प्रयत्न वचनयोग है। मनोयोग की ही भांति वचनयोग के भी चार प्रकार है।

काययोग

शरीर के द्वारा होने वाला आत्मा का प्रयत्न काययोग है।

काययोग का सम्बन्ध शरीर के साथ है। शरीर पांच हैं—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण।

मनुष्य और तिर्यञ्च गति के जीव औदारिक शरीर वाले होते हैं। औदारिक शरीर वाले जीवों की हलन-चलन रूप प्रवृत्ति औदारिक काययोग कहलाती है।

काययोग का दूसरा भेद है—औदारिकमिश्रकाययोग। औदारिक का मिश्र कार्मण, वैक्रिय और आहारक इन तीनों शरीरों के साथ होता है। वह चार प्रकार से हो सकता है—

(क) मृत्यु के समय पिछला शरीर छूट जाता है। उसके बाद मनुष्य और तिर्यञ्च गति में उत्पन्न होने वाला जीव अपने नये उत्पत्ति स्थान में पहुंचकर आहार ग्रहण कर लेता है, पर जब तक शरीर पर्याप्ति का बन्ध पूरा नहीं होता है, तब तक कार्मण काययोग के साथ औदारिक का मिश्र होता है।

(ख) केवली समुद्घात के समय दूसरे, छठे और सातवें समय में कार्मण काययोग के साथ औदारिक का मिश्र होता है।

(ग) विशिष्ट शक्तिसम्पन्न योगी आहारकलब्धि का प्रयोग करता है। जब तक आहारक शरीर पूरा नहीं बन जाता, तब तक आहारक काययोग के साथ औदारिक का मिश्र होता है।

(घ) वैक्रिय लब्धि वाले मनुष्य और तिर्यञ्च वैक्रिय रूप बनाते हैं, जब तक रूप-निर्माण का काम पूरा नहीं होता, तब तक वैक्रिय काययोग के साथ औदारिक का मिश्र होता है।

देव, नारक, वैक्रियलब्धिसम्पन्न मनुष्य, तिर्यञ्च एवं वायुकाय के वैक्रिय शरीर होता है। वैक्रिय शरीर की प्रवृत्ति वैक्रिय काययोग है। वैक्रिय मिश्र काययोग दो प्रकार से हो सकता है—

देवता और नारकी में उत्पन्न होने वाला जीव आहार ग्रहण कर लेता है, पर शरीर पर्याप्ति को पूरा नहीं करता है, तब तक कार्मण काययोग के साथ वैक्रिय का मिश्र होता है।

औदारिक शरीर वाले मनुष्य और तिर्यञ्च वैक्रियलब्धि का प्रयोग कर वैक्रिय रूप बनाते हैं। उस लब्धि को समेटते समय जब तक औदारिक शरीर पूरा नहीं बनता है, तब तक औदारिक काययोग के साथ वैक्रिय का मिश्र होता है।

आहारक शरीर योगजन्य लब्धि है। यह चतुर्दश पूर्वधर मुनियों के ही हो सकता है। आहारक शरीर पूरा बनकर जो प्रवृत्ति करता है, वह आहारक काययोग कहलाता है।

आहारक शरीर अपना काम सम्पन्न कर पुनः औदारिक शरीर में प्रवेश करता है। जब तक उसका काम पूरा नहीं होता है, तब तक औदारिक काययोग के साथ आहारक का मिश्र होता है। वह आहारक-मिश्रकाययोग कहलाता है।

तैजस शरीर का स्वतंत्र रूप से कोई प्रयोग नहीं होता, इसलिए तैजस काययोग नहीं होता। उसका समावेश कार्मण काययोग में हो जाता है।

एक भव से दूसरे भव में जाते समय जीव जब अनाहारक रहता है, उस समय होने वाले योग का नाम कार्मण काययोग है।

केवली समुद्घात के तीसरे, चौथे और पांचवें समय में होने वाला योग भी कार्मण काययोग कहलाता है।

इस प्रकार मन, वचन और काय योग के सब भेदों को मिलाने से योग के पन्द्रह भेद हो जाते हैं।

१४. उपयोग के दो प्रकार हैं—

१. साकार उपयोग   २. अनाकार उपयोग

साकार उपयोग के आठ प्रकार हैं—

पांच ज्ञान—

१. मतिज्ञान   ४. मनःपर्यवज्ञान

२. श्रुतज्ञान   ५. केवलज्ञान

३. अवधिज्ञान

तीन अज्ञान—

१. मति अज्ञान,   २. श्रुत अज्ञान,   ३. विभंग अज्ञान

अनाकार उपयोग के चार प्रकार हैं—

१. चक्षुदर्शन   ३. अवधिदर्शन

२. अचक्षुदर्शन   ४. केवलदर्शन

चौदहवें बोल में उपयोग के दो प्रकार बताए गए हैं—साकार उपयोग और अनाकार उपयोग। उपयोग शब्द जैनों का पारिभाषिक शब्द है। इसका जिस अर्थ में जैन दर्शन में प्रयोग हुआ है, कहीं नहीं हुआ है। अन्यत्र इसका अर्थ किया जाता है—व्यवहार। उदाहरणार्थ—गर्मी में कैसे वस्त्रों का उपयोग लाभदायक होता है ? इस स्थान का उपयोग किस रूप में हो सकता है ? आदि।

जैन आगमों में उपयोग शब्द का प्रयोग जीव के लक्षण अर्थ में हुआ है—'जीवो उवओगलक्खणो'। तत्त्वार्थ सूत्र में 'उपयोगो लक्षणम्' कहकर उक्त तथ्य को स्वीकृति दी गयी है। अब प्रश्न उठता है कि उपयोग क्या है ? 'जैन सिद्धान्त दीपिका' में इस प्रश्न को उत्तरित करते हुए लिखा गया है—'चेतनाव्यापारः उपयोगः' ज्ञान और दर्शन रूप चेतना का जो व्यापार है, प्रवृत्ति है, वह उपयोग है। उपयोग जीव का लक्षण है, इसलिए प्राणीमात्र में इसकी सत्ता है। सत्तागत समानता होने पर भी हर प्राणी के उपयोग की अपनी-अपनी सीमा है। अविकसित प्राणियों का उपयोग अव्यक्त होता है और विकसित प्राणियों का व्यक्त। इसकी अभिव्यक्ति में कर्मों का विलय या हल्कापन निमित्त बनता है। उपयोग की प्रबलता ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म के क्षय या क्षयोपशम-सापेक्ष है। जितना-जितना क्षय और क्षयोपशम, उतना-उतना प्रशस्त उपयोग। सर्वोत्कृष्ट ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग मनुष्य का होता है। उसकी अनावृत चेतना के दर्पण पर मूर्त-अमूर्त सभी द्रव्य स्पष्ट रूप से विम्बित हो जाते हैं।

उपयोग दो प्रकार का होता है—साकार उपयोग और अनाकार उपयोग। इन्हें दूसरे शब्दों में भिन्नाकार प्रतीति और एकाकार प्रतीति अथवा ज्ञान और दर्शन भी कहा जाता है। ज्ञानोपयोग भिन्नाकार प्रतीति है। इसमें ज्ञेय पदार्थ की भिन्न-भिन्न आकृतियां बनकर उभर जाती हैं। दर्शन एकाकार प्रतीति है। इसमें ज्ञेय पदार्थ के अस्तित्व मात्र का वोध तो होता है, पर वह विशद रूप में नहीं होता। उसका कोई आकार नहीं बन पाता, इसलिए उसे निराकार उपयोग कहा गया है।

पांच ज्ञान

साकार उपयोग के आठ भेद हैं। उनमें ज्ञान के पांच भेद हैं—मतिज्ञान,

श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्यवज्ञान और केवलज्ञान।

मतिज्ञान—पांच इन्द्रियों और मन के द्वारा चेतना का जो व्यापार होता है, वह मतिज्ञानोपयोग है।

श्रुतज्ञान—शब्द, संकेत, शास्त्र आदि माध्यमों से इन्द्रियों और मन के द्वारा जो ज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञानोपयोग है। अथवा यों कहना चाहिए कि मतिज्ञान ही प्रगाढ़ अवस्था को प्राप्त कर श्रुतज्ञान बन जाता है। मतिज्ञान वर्तमान में होता है और श्रुतज्ञान त्रैकालिक है। मतिज्ञान मूक है। वह केवल अपने लिए है। श्रुतज्ञान शब्दमय है। वह दूसरों को बोध देने में सक्षम है।

अवधिज्ञान—इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना चेतना के दर्पण पर मूर्त पदार्थों के जो बिम्ब उभरते हैं, उन्हें पकड़ने वाला उपयोग अवधिज्ञानोपयोग है। यह ज्ञान अतीन्द्रिय है। फिर भी इसमें तीव्र एकाग्रता की अपेक्षा रहती है। इस दृष्टि से ही इसका निरुक्त किया गया है—'अवधानम् अवधिः' अवधान अर्थात् एकाग्रता। ध्यान की गहराइयों में उतरे बिना अवधिज्ञानोपयोग हो ही नहीं सकता।

मन:पर्यवज्ञान—इन्द्रियों और मन की सहायता बिना सामने वाले व्यक्ति की मानसिक अवस्थाओं—आकृतियों को जानना मन:पर्यवज्ञानोपयोग है। यह विशिष्ट अवधिज्ञान से भी हो सकता है। पर मन:पर्यवज्ञान से जो बोध होता है, वह अधिक स्पष्ट और विशद होता है। जिस प्रकार एक फिजिशियन आंख, नाक, गला आदि शरीर के सभी अवयवों की जांच करता है, उसी प्रकार आंख, नाक आदि का विशेष डॉक्टर भी करता है। किन्तु दोनों की जांच और चिकित्सा में अन्तर रहता है। एक ही कार्यक्षेत्र होने पर भी विशेषज्ञ के ज्ञान की तुलना में वह डॉक्टर नहीं आ सकता। इसी प्रकार मन:पर्यवज्ञान की तुलना में साधारण अवधिज्ञान नहीं आ सकता।

केवलज्ञान—इन्द्रियों और मन की सहायता के विना आत्मा के द्वारा मूर्त और अमूर्त सभी पदार्थों की सब पर्यायों का साक्षात्कार करना केवलज्ञानोपयोग है।

मतिज्ञान आदि चार ज्ञानों में कर्मों के क्षयोपशम में अन्तर रहने से उनके उपयोग में भी अन्तर रहता है। केवलज्ञान ज्ञानावरणीय

और दर्शनावरणीय कर्मों के सर्वथा क्षय से प्राप्त होता है, इसलिए किसी भी केवलज्ञानी की उपयोग चेतना में कोई अन्तर नहीं रह सकता।

तीन अज्ञान

पांच ज्ञान की भांति तीन अज्ञान भी ज्ञानोपयोग के ही भेद हैं। मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान और विभंग अज्ञान में ज्ञान चेतना का ही उपयोग होता है। पर मिथ्यादृष्टि व्यक्ति के योग से ये अज्ञान कहलाते हैं। यहां प्रश्न हो सकता है ज्ञान सम्यक्‌दृष्टि का हो या मिथ्यादृष्टि का, वह अज्ञान कैसे हो सकता है? सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी दोनों का ज्ञान क्षयोपशम भाव है, फिर भी पात्र-भेद से एक का ज्ञान, ज्ञान और दूसरे का ज्ञान, अज्ञान कहलाता है। यह बात व्यावहारिक दृष्टि से भी असंगत नहीं है। शराब की बोतल में शरबत डाल दिया जाए तो साधारणतया उसमें शराब का ही आभास होता है। तत्त्वतः वह शराब नहीं है। पर संगति के प्रभाव से शरबत शराब बन जाता है। नीच के सम्पर्क से उत्तम व्यक्ति के नीच बनने की बात नीतिसम्मत है। इसी प्रकार मिथ्यात्वी के संयोग से ज्ञान भी अज्ञान बन जाता है। अज्ञान के भेदों को परिभाषित करने की अपेक्षा नहीं है। क्योंकि मूलतः तो वे ज्ञान के ही भेद हैं। निष्कर्ष की भाषा में मिथ्यात्वी का इन्द्रियजन्य ज्ञान मति अज्ञान, उसका शास्त्रीय ज्ञान श्रुत अज्ञान और अतीन्द्रिय ज्ञान विभंग अज्ञान कहलाता है।

मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान विशिष्ट साधकों को ही प्राप्त होते हैं। उन्हें मिथ्यादृष्टि व्यक्ति कभी नहीं पा सकता। इसलिए वे अज्ञान नहीं होते।

चार दर्शन

अनाकार उपयोग के चार भेद हैं—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधि-दर्शन और केवलदर्शन।

ज्ञान और दर्शन—दोनों ही अवबोधक हैं फिर भी ज्ञान में स्थायित्व है और दर्शन तात्कालिक है। ज्ञान त्रैकालिक है और दर्शन केवल वर्तमान में होता है, इसलिए इनमें भेद किया गया है।

चक्षुदर्शन—आंखों से जो सामान्य अवबोध होता है, वह चक्षुदर्शन है।

अचक्षुदर्शन—आंखों के अतिरिक्त चार इन्द्रियों और मन से जो सामान्य अवबोध होता है वह अचक्षुदर्शन है।

यहां प्रश्न उठता है कि चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन के स्थान पर इन्द्रियदर्शन कहने से वांछित अर्थ निकल सकता था, फिर ये दो भेद क्यों किए? इसका सीधा-सा उत्तर यह है कि शास्त्रकारों ने लोक दृष्टि को प्रमुखता देकर यह वर्गीकरण किया है। लोकमत में आंख का अतिरिक्त मूल्य है। सामान्यतः लोग कहते हैं—जो हमने आंखों से देखा है, वह गलत कैसे हो सकता है।

चक्षु की भांति अन्य इन्द्रियों से भी देखा जा सकता है, जैसे—किसी व्यक्ति ने अंधेरे में आम खाया। उस समय केवल रस का ही बोध नहीं होता, रूप का भी बोध हो जाता है। इस दृष्टि से यह तथ्य निर्विवाद है कि चक्षु के अतिरिक्त इन्द्रियों और मन से भी देखा जा सकता है। इसलिए अचक्षुदर्शन को भी स्वतंत्र स्थान मिल गया। अवधिदर्शन में इन्द्रियों और मन के बिना ही मूर्त द्रव्यों का साक्षात्कार होता है तथा केवलदर्शन में अनावृत आत्मा के द्वारा रूपवान् और अरूप सभी द्रव्यों की सब पर्यायों का साक्षात्कार हो जाता है।

यहां प्रश्न हो सकता है कि ज्ञान पांच हैं, तब दर्शन चार ही क्यों? मनःपर्यवज्ञान है तो मनःपर्यवदर्शन क्यों नहीं? प्रश्न अस्वाभाविक नहीं है। इस बात को पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि मनःपर्यवज्ञान एक विशेषज्ञ का काम करता है। वह मन की विविध आकृतियों को पकड़ता है। जो आकार—अवस्था को ही जानता है, वह अनाकार को कैसे जानेगा? दर्शन का विषय अनाकार उपयोग है, इसलिए मनःपर्यवज्ञान की भांति मनःपर्यव दर्शन नहीं हो सकता।

१५. आत्मा के आठ प्रकार हैं—

१. द्रव्य	५. ज्ञान
२. कषाय	६. दर्शन
३. योग	७. चारित्र
४. उपयोग	८. वीर्य

जीव, जीव के गुण और जीव की क्रियाएं—इन सबको आत्मा कहा जाता है। आत्मा एक चेतनावान् पदार्थ है। चेतना उसका धर्म है और उपयोग उसका लक्षण है। चेतना सदा एक रूप में नहीं रहती। उसका रूपांतरण होता रहता है। जैन दर्शन के अनुसार इस रूपांतरण का नाम है पर्यायपरिवर्तन। संसार का कोई भी 'द्रव्य' गुण और पर्याय के बिना नहीं होता। आत्मा भी अपने गुण और पर्यायों का समवाय है। गुण सदा साथ रहने वाला धर्म है और पर्याय बदलते रहने वाला धर्म है। गुण और पर्याय केवल आत्मा में ही नहीं, जड़ पदार्थ में भी होते हैं। चेतन और जड़ पदार्थों का समन्वित रूप यह सृष्टि है। इनके अतिरिक्त इस संसार में तीसरा कोई तत्त्व नहीं मिलता।

आत्मा एक द्रव्य है। फिर भी पर्याय-भेद के आधार पर वह अनेक रूपों में दिखाई देती है। पर्यायों के विस्तार में न जाएं तो मूलतः उसके दो भेद होते हैं—द्रव्य आत्मा और भाव आत्मा। द्रव्य आत्मा यानी चेतनामय असंख्य अविभाज्य अवयवों का समूह आत्म-द्रव्य। इसमें गुण और पर्याय हैं, पर वे विवक्षित नहीं हैं। केवल शुद्ध आत्म-द्रव्य की विवक्षा अन्य पर्यायों की सत्ता होने पर भी उन्हें गौण कर देती है। आत्मा एक त्रैकालिक तत्त्व है। अतीत में इसका अस्तित्व था, वर्तमान में है और भविष्य में रहेगा। कोई भी काल या परिस्थिति इस आत्म-द्रव्य को अनात्म द्रव्य नहीं बना सकती।

शाश्वत और अविभाज्य तत्त्व होने पर भी यह परिवर्तनशील है। उसकी पर्याय (अवस्था) बदलती रहती है। प्रतिक्षण उसकी अवस्था में बदलाव आता है। वह इतना सूक्ष्म होता है कि साधारण व्यक्ति को गम्य नहीं हो सकता। किंतु स्थूल परिवर्तनों के आधार पर आत्मा की अनेक अवस्थाएं निर्विवाद रूप से प्रमाणित हैं। द्रव्य और भाव दोनों विवक्षाओं के आधार पर पन्द्रहवें बोल में आत्मा के आठ प्रकार बताए गये हैं।

द्रव्य-आत्मा शुद्ध चेतना है। क्रोध, मान, माया, लोभ से रंजित होने पर वह कषाय आत्मा हो जाती है। आत्मा की जितनी प्रवृत्ति है, वह योग आत्मा के नाम से पहचानी जाती है। चेतना जब व्यापृत होती है, वह उपयोग आत्मा है। ज्ञानात्मक और दर्शनात्मक चेतना ज्ञान और दर्शन आत्मा हैं। आत्मा की विशिष्ट संयम मूलक अवस्था

चारित्र आत्मा है। आत्मा की शक्ति वीर्य आत्मा के रूप में प्रसिद्ध है।

ये आठ आत्माएं भी सापेक्ष दृष्टि से ही बतायी गयी हैं। क्योंकि आत्मा का पर्यायांतरण केवल इन्हीं आठ बिंदुओं में सीमित नहीं है। आत्मा की जितनी पर्यायें हैं, उतनी ही आत्माएं हो सकती हैं। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि आत्मा अनंत हैं। प्रश्न हो सकता है कि उन आत्माओं की पहचान किस नाम से होगी? जो अवस्था, वही पहचान और वही नाम। वैसे संद्धांतिक भाषा में आठ आत्मा के अतिरिक्त आत्मा की सभी अवस्थाओं को अन्य आत्मा (अनेरी आत्मा) कहा गया है।

आठ आत्माओं के इस वर्गीकरण के साथ अन्य आत्मा की सूचना से आत्मा के अनंत रूपों की संभावना सत्य में बदल जाती है। संसार में रहने वाली कुछ आत्माएं बहुत अच्छी हैं और कुछ आत्माएं अच्छी नहीं हैं। आत्मा के अच्छी और बुरी होने का मूलभूत आधार है कर्म-वर्गणा। संसार की सब आत्माओं को कर्मों के उदय, क्षयोपशम और क्षय के आधार पर तीन वर्गों में बांटा जा सकता है—बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा। बहिरात्मा और अंतरात्मा सैद्धांतिक शब्द हैं। व्यवहार में इनके लिए दुरात्मा और महात्मा शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

दुरात्मा औदयिक भाव है। महात्मा क्षायोपशमिक भाव है और परमात्मा क्षायिक भाव है। व्यक्ति जितने बुरे काम करता है, उसके पीछे कर्मोदय का हाथ रहता ही है। यह उदय की श्रृंखला जितनी मजबूत होती है, व्यक्ति की आत्मा उतनी ही आवृत और विकृत रहती है। क्षायोपशमिक भाव में कर्मों की बेड़ियां सर्वथा टूटती नहीं, पर उनका बंधन उतना प्रगाढ़ नहीं रहता। उस स्थिति में व्यक्ति का चिंतन और व्यवहार बदलता है, वह दुरात्मा की भूमिका से ऊपर उठकर महात्मा बन जाता है। क्षायिक भाव में कर्मों का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। आत्मा विकार-रहित होकर सब आवरणों से मुक्त हो जाती है। उस समय आत्मा का मूल स्वरूप प्रकट हो जाता है। स्वरूपोपलब्धि ही परमात्म-भाव है।

आत्मा मूलतः एक ही है, पर ये तीन अवस्थाएं सापेक्ष हैं। धर्म की

साधना व्यक्ति को दुरात्मा से परमात्मा बनाने में सक्षम है।

१६. गुणस्थान के चौदह प्रकार हैं—

१. मिथ्यादृष्टि	८. निवृत्तिबादर
२. सास्वादनसम्यग्दृष्टि	९. अनिवृत्तिबादर
३. मिश्रदृष्टि	१०. सूक्ष्मसम्पराय
४. अविरतिसम्यग्दृष्टि	११. उपशान्तमोह
५. देशविरति	१२. क्षीणमोह
६. प्रमत्तसंयम	१३. सयोगीकेवली
७. अप्रमत्तसंयत	१४. अयोगीकेवली

कर्म के विलय की तरतमता के आधार पर जीव की चौदह श्रेणियां स्थापित की गयी हैं। वे ही श्रेणियां चौदह गुणस्थान या जीवस्थान के नाम से प्रसिद्ध हैं। संसार के समस्त जीव उन चौदह श्रेणियों में विभाजित हैं। उनमें सबसे पहली श्रेणी या गुणस्थान है मिथ्यादृष्टि गुणस्थान।

प्रथम गुणस्थान में मोह कर्म का सबसे कम क्षयोपशम होता है। जो स्वल्पतम क्षयोपशम है, उसको मिथ्यादृष्टि कहा जाता है। अथवा मिथ्यात्वी व्यक्ति की जितनी सही दृष्टि है, वह मिथ्यादृष्टि गुणस्थान कहलाता है।

यहां प्रश्न यह उठता है कि क्या मिथ्यात्वी की दृष्टि भी सही हो सकती है? जैन सिद्धांत के अनुसार संसार का कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है, जिसमें आंशिक रूप से सही दृष्टि न हो। व्यक्त चेतना वाले जीवों में उस अंश को साक्षात् देखा जा सकता है और अव्यक्त चेतना वाले जीवों में वह अव्यक्त रहता है। फिर भी इस वैशिष्ट्य को नकारना संभव नहीं है। क्योंकि चेतन और अचेतन की भिन्नता का न्यूनतम मानक यही है।

एक मिथ्यात्वी व्यक्ति आत्मा, परमात्मा, मोक्ष आदि के संबंध में कुछ नहीं जानता, फिर भी वह इतना जरूर मानता है कि ब्रह्मचर्य अच्छा है, तपस्या अच्छी है, संयम अच्छा है। उसकी यह सही समझ ही उसका मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है।

का क्षयोपशम होता है, इसलिए अंशतः व्रतग्रहण की क्षमता प्राप्त हो जाती है।

छठी श्रेणी का नाम है—प्रमत्तसंयत गुणस्थान। इसमें प्रत्याख्यानावरण का क्षयोपशम हो जाने से संपूर्ण रूप से व्रती जीवन का क्रम शुरू हो जाता है। इससे आगे की सब श्रेणियों में व्रत या संयम तो रहता ही है, उसके साथ-साथ अन्य गुणों का विकास होता जाता है।

सातवीं श्रेणी में प्रमाद छूट जाता है और हर क्षण जागरूकता में व्यतीत होता है। यह स्थिति बहुत लम्बे समय तक नहीं रहती। इसलिए ऊर्ध्वारोहण करने वालों को छोड़कर छठी-सातवीं श्रेणी का क्रम बदलता रहता है।

आठवीं श्रेणी का नाम है—निवृत्तिबादर गुणस्थान। इसमें बादर अर्थात् स्थूल कषाय की निवृत्ति हो जाती है। अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान कषाय का उपशम या क्षय हो जाने के कारण निवृत्ति को प्रधान मानकर इसे निवृत्तिबादर कहा जाता है। इस गुणस्थान में भी कुछ स्थूल कषाय बचा रहता है। पर उसकी विवक्षा नहीं की जाती। इस श्रेणी का दूसरा नाम अपूर्वकरण भी है।

नौवें गुणस्थान में संज्वलन कषाय की अनिवृत्ति रहती है। उसी की प्रधानता से इस गुणस्थान को अनिवृत्तिबादर गुणस्थान कहा जाता है। अनिवृत्ति का यह क्रम नौवें गुणस्थान के प्रारम्भ में रहता है। उसके अन्तिम समय में क्रोध, मान और माया की सर्वथा निवृत्ति हो जाती है। केवल लोभ अवशेष रहता है।

दसवीं श्रेणी में सूक्ष्म कषाय बाकी रहता है। कषाय का भी एक अंश केवल सूक्ष्म लोभ। इस श्रेणी का नाम है सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान।

ग्यारहवीं श्रेणी है—उपशान्त मोह। इसमें मोह-कर्म का सर्वथा उपशम हो जाता है। बारहवीं श्रेणी में मोह सर्वथा क्षीण हो जाता है।

तेरहवीं श्रेणी में केवलज्ञान उपलब्ध होता है। इसका नाम है—सयोगी केवली। इसमें केवली के मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति चालू रहती है। चौदहवीं श्रेणी में पहुंचते ही प्रवृत्ति मात्र का निरोध हो जाता है। इस श्रेणी का नाम है 'अयोगी केवली'। इसके बाद जीव

का क्षयोपशम होता है, इसलिए अंशतः व्रतग्रहण की क्षमता प्राप्त हो जाती है।

छठी श्रेणी का नाम है—प्रमत्तसंयत गुणस्थान। इसमें प्रत्याख्यानावरण का क्षयोपशम हो जाने से संपूर्ण रूप से व्रती जीवन का क्रम शुरू हो जाता है। इससे आगे की सब श्रेणियों में व्रत या संयम तो रहता ही है, उसके साथ-साथ अन्य गुणों का विकास होता जाता है।

सातवीं श्रेणी में प्रमाद छूट जाता है और हर क्षण जागरूकता में व्यतीत होता है। यह स्थिति बहुत लम्बे समय तक नहीं रहती। इसलिए ऊर्ध्वारोहण करने वालों को छोड़कर छठी-सातवीं श्रेणी का क्रम बदलता रहता है।

आठवीं श्रेणी का नाम है—निवृत्तिबादर गुणस्थान। इसमें बादर अर्थात् स्थूल कषाय की निवृत्ति हो जाती है। अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान कषाय का उपशम या क्षय हो जाने के कारण निवृत्ति को प्रधान मानकर इसे निवृत्तिबादर कहा जाता है। इस गुणस्थान में भी कुछ स्थूल कषाय बचा रहता है। पर उसकी विवक्षा नहीं की जाती। इस श्रेणी का दूसरा नाम अपूर्वकरण भी है।

नौवें गुणस्थान में संज्वलन कषाय की अनिवृत्ति रहती है। उसी की प्रधानता से इस गुणस्थान को अनिवृत्तिबादर गुणस्थान कहा जाता है। अनिवृत्ति का यह क्रम नौवें गुणस्थान के प्रारम्भ में रहता है। उसके अन्तिम समय में क्रोध, मान और माया की सर्वथा निवृत्ति हो जाती है। केवल लोभ अवशेष रहता है।

दसवीं श्रेणी में सूक्ष्म कषाय बाकी रहता है। कषाय का भी एक अंश केवल सूक्ष्म लोभ। इस श्रेणी का नाम है सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान।

ग्यारहवीं श्रेणी है—उपशान्त मोह। इसमें मोह-कर्म का सर्वथा उपशम हो जाता है। बारहवीं श्रेणी में मोह सर्वथा क्षीण हो जाता है।

तेरहवीं श्रेणी में केवलज्ञान उपलब्ध होता है। इसका नाम है—सयोगी केवली। इसमें केवली के मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति चालू रहती है। चौदहवीं श्रेणी में पहुंचते ही प्रवृत्ति मात्र का निरोध हो जाता है। इस श्रेणी का नाम है 'अयोगी केवली'। इसके बाद जीव

मुक्त हो जाता है। ये श्रेणियां आत्मविशुद्धि की क्रमिक भूमिकाएं हैं।

१७. **भाव (जीव का स्वरूप) के पांच प्रकार हैं—**

१. **औदयिक**
२. **औपशमिक**
३. **क्षायिक**
४. **क्षायोपशमिक**
५. **पारिणामिक**

सतरहवें बोल में भाव के पांच प्रकार बतलाये गये हैं। कर्मों के संयोग या वियोग से होने वाली जीव की अवस्था विशेष का नाम भाव है। इसे जीव का स्वरूप भी कहा जाता है। जैन-दर्शन के अनुसार संसारी जीव अपने शुद्ध स्वरूप में उपलब्ध नहीं होता। शुद्ध चैतन्य जीव का मूलभूत स्वरूप है, किन्तु वह अनादिकाल से कर्ममल से लिप्त है। जब तक वह इस कर्ममल को धोकर उज्ज्वल नहीं बन जाता, तब तक कर्मोंके बंधन, उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि से होने वाली विविध परिणतियों में परिणत होता रहता है।

औदयिक भाव

संसारी जीव प्रवृत्ति करता है। जहां प्रवृत्ति है, वहां बंधन है। बंधन आत्मा के साथ कर्म-पुद्गलों का होता है। जो पुद्गल बंधते हैं, वे कुछ समय तक आत्मा के साथ घुले-मिले रहते हैं। स्थिति का परिपाक होने पर या उदीरणा के द्वारा बंधे हुए कर्म उदय में आते हैं। कर्मों के उदय से होने वाली आत्मा की अवस्था औदयिक भाव है। इसे उदय-निष्पन्न भाव भी कहा जाता है। उदय आठों कर्मों का होता है।

औपशमिक भाव

मोहकर्म के उपशम से होने वाली आत्मा की अवस्था औपशमिक या उपशम-निष्पन्न भाव है। उपशम एक मोहकर्म का होता है। मोहकर्म आत्मा की विकृति का प्रमुख हेतु है। जीव को सबसे अधिक पुरुषार्थ इसी के साथ लोहा लेने में करना होता है। उपशम काल में मोहकर्म सर्वथा प्रभावहीन हो जाता है, किन्तु यह स्थिति अड़तालीस मिनट के भीतर-भीतर बदल जाती है, इसलिए जीव को इसके साथ बार-बार

संघर्ष करना पड़ता है।

क्षायिक भाव

कर्मों के क्षय से होने वाली आत्मा की अवस्था क्षायिक या क्षय-निष्पन्न भाव है। सब कर्मों का क्षय होने के बाद पुनः किसी भी कर्म का बंधन नहीं होता। कर्म-मुक्त होने के बाद जीव के संसार भ्रमण का मार्ग बंद हो जाता है। वह सिद्ध, बुद्ध, परमात्मा बन जाता है।

क्षायोपशमिक भाव

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय—इन चार घात्य कर्मों के हल्केपन से आत्मा की जो अवस्था होती है, वह क्षायोपशमिक या क्षयोपशम-निष्पन्न भाव कहलाता है। क्षयोपशम से निष्पन्न अवस्थाओं की अनन्त भूमिकाएं हो सकती हैं। पुरुषार्थ जितना प्रबल होता है, कर्म उतने ही अधिक हल्के होते जाते हैं। वह हल्कापन ही क्षायोपशमिक भाव है।

उपशम-निष्पन्न भाव में कर्मों का सर्वथा अनुदय रहता है। क्षयोपशम-निष्पन्न भाव में उदय चालू रहता है—वहां प्रतिक्षण कर्म का उदय. वेदन और क्षय होता रहता है। इस सहज कर्मक्षय के साथ आगामी काल में उदय प्राप्तव्य कर्मों का विपाकवेद्याभाव रूप उपशम होता है, इसलिए इसे क्षयोपशम-निष्पन्न भाव कहा जाता है।

पारिणामिक भाव

कर्मों के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम के द्वारा जीव की जो-जो परिणतियां होती हैं, जिन-जिन अवस्थाओं में परिणति होती है, वह पारिणामिक भाव कहलाता है।

१८. लेश्या के छह प्रकार हैं—

१. कृष्ण	४. तेजः
२. नील	५. पद्म
३. कापोत	६. शुक्ल

लेश्या का अर्थ है—तैजस शरीर के साथ काम करने वाली चेतना

अथवा भावधारा। अठारहवें बोल में उसके छह प्रकार बतलाये गये हैं—कृष्ण, नील, कपोत, तेजः, पद्म और शुक्ल।

इनमें प्रथम तीन लेश्याएं अप्रशस्त हैं और शेष तीन लेश्याएं प्रशस्त हैं। प्रशस्त लेश्याएं प्रकाशमय, स्निग्ध और गर्म हैं। अप्रशस्त लेश्याएं अंधकारमय, रूक्ष और ठंडी हैं।

अशुभ लेश्या के स्पन्दनों से व्यक्ति के मन में हिंसा, झूठ, चोरी, ईर्ष्या, शोक, घृणा और भय के भाव जागृत होते हैं।

शुभ लेश्या के स्पन्दनों से अभय, मैत्री, शांति, जितेन्द्रियता, क्षमा आदि पवित्र भावों का विकास होता है।

छहों लेश्याओं के छह रंग हैं—काला, नीला, कापोती, लाल, पीला और सफेद। इन रंगों से प्रभावित भावधारा शुभ और अशुभ रूप में परिणत होती है। भाव और विचार—ये दो अलग-अलग तत्त्व हैं। भाव अन्तरंग तत्त्व है। उसके निर्माण में ग्रन्थितंत्र का सहयोग रहता है। विचार का सम्बन्ध कर्म से है। इसका निर्माण नाड़ीतंत्र से होता है।

भावधारा शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की होती है। इसके निर्माण में रंगों का बहुत बड़ा हाथ रहता है। लाल, पीला और सफेद रंग भावविशुद्धि का उपाय है। विशुद्ध भावधारा से शारीरिक और मानसिक बीमारी दूर होती है एवं मूर्च्छा टूटती है।

जैन दर्शन में लेश्या का बहुत सूक्ष्म विवेचन है। इसे स्थूल रूप से समझने के लिए एक निदर्शन को काम में लिया जाता है—छह मित्र एक वगीचे में गये। वहां उन्होंने एक पके हुए जामुन का वृक्ष देखा। पहला मित्र वोला –'चलो इस वृक्ष को उखाड़ फेंकें और पेट भर जामुन खाएं।' दूसरे व्यक्ति ने कहा—वृक्ष को उखाड़ने से क्या लाभ ? केवल बड़ी शाखाओं को काटने से ही हमारा काम हो जाएगा।' तीसरे ने कहा—'यह भी उचित नहीं, हमारा काम तो छोटी शाखाओं को काटने से ही हो जाएगा।' चौथे मित्र ने कहा—'टहनियों को तोड़ने से क्या लाभ ? केवल फल के गुच्छों को तोड़ना ही काफी है।' पांचवां मित्र बोला - 'हमें गुच्छों से क्या प्रयोजन ? केवल फल ही तोड़कर ले लेना अच्छा है।' छठा मित्र गम्भीर होकर बोला—'आप सब क्या सोच रहे हैं ? हमें जितने फल चाहिए, उतने तो नीचे गिरे हुए ही हैं,

फिर व्यर्थ में इतने फल तोड़ने से क्या लाभ ?'

इस दृष्टान्त से लेश्याओं का स्वरूप स्पष्टता से समझ में आ जाता है। पहले व्यक्ति के परिणाम कृष्ण लेश्या के हैं और क्रमशः छठे व्यक्ति के परिणाम शुक्ल लेश्या के हैं। यह निदर्शन केवल परिणामों की तरतमता का सूचक है।

१९. मिथ्यात्व के पांच प्रकार हैं—

१. आभिग्रहिक
२. अनाभिग्रहिक
३. आभिनिवेशिक
४. अनाभोगिक
५. सांशयिक

उन्नीसवें बोल में मिथ्यात्व के पांच प्रकार बतलाए गए हैं। कोई वस्तु या तत्त्व जिस रूप में है, उसे उसी रूप में स्वीकार न कर भिन्न रूप में समझना और समझाना मिथ्यात्व है। मूलतः मिथ्यात्व के दो ही भेद हैं—आभिग्रहिक और अनाभिग्रहिक। शेष तीन भेद इन्हीं का विस्तार मात्र है।

१. आभिग्रहिक मिथ्यात्व

सही तत्त्व को समझ लेने के बाद भी गलत तत्त्व को पकड़कर रखना आभिग्रहिक मिथ्यात्व कहलाता है। एक प्रकार से यह रुढ़ता, परम्परावादिता या आग्रहशीलता की निष्पत्ति है। कोई आदमी तलैया के सूख जाने पर भी उसका कीचड़ खाता है। दूसरा व्यक्ति उससे पूछता है कि आप पानी वाले तालाब को छोड़कर यहां क्यों आए ? वह आदमी उत्तर देता है—यह तलैया मेरे पिता की है। पानी हो या कीचड़, अपनी चीज तो अपनी ही होती है। इस प्रकार किसी तत्त्व की सही जानकारी मिल जाने पर भी अपने गृहीत आग्रह को नहीं छोड़ने वाला व्यक्ति, इस प्रथम कोटि के मिथ्यात्व का शिकार हो जाता है।

२. अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व

किसी प्रपंच में कौन जाएगा ? इस बुद्धि से अपने पूर्व गृहीत विचार या तत्त्व को नहीं छोड़ना अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व कहलाता है। इसमें

कोई पूर्वाग्रह या पकड़ तो नहीं होती, पर किसी तत्त्व को गहराई से समझने का मनोभाव पैदा ही नहीं होता, जैसे—जैन संस्कार विधि अच्छी तो है, पर जो कुछ सैकड़ों-हजारों वर्षों से चला आ रहा है, उसे छोड़कर नया झमेला क्यों खड़ा करें ? जो काम करना है, ऐसे भी हो सकता है और वैसे भी हो सकता है। इस स्थिति में अपनी पुरानी परम्परा को क्यों तोड़ें ? इस प्रकार तटस्थ भाव से गलत तत्त्व को पकड़कर रखने वाला व्यक्ति दूसरी कोटि के मिथ्यात्व से आक्रान्त रहता है।

३. आभिनिवेशिक मिथ्यात्व

तात्कालिक आग्रह के कारण किसी तत्त्व को असम्यक् रूप में पकड़ कर रखना आभिनिवेशिक मिथ्यात्व है। वैसे अभिनिवेश और आग्रह शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं, फिर भी इनके आधार पर मिथ्यात्व के दो भिन्न प्रकार किए गए हैं, इससे यह प्रतीत होता है कि ये दोनों शब्द पर्यायवाचक नहीं हैं। आग्रह दीर्घकालिक होता है और अभिनिवेश अल्पकालिक। तात्कालिक आवेश में आकर अपनी गलत बात को भी सही बताने का प्रयत्न करने वाला व्यक्ति तीसरी कोटि के मिथ्यात्व से प्रभावित होता है।

४. अनाभोगिक मिथ्यात्व

ज्ञान के अभाव में गलत तत्त्व को पकड़कर बैठना अनाभोगिक मिथ्यात्व है। इसमें न अच्छे-बुरे की पहचान होती है और न परम्परा का बोध ही होता है। धर्म, अधर्म आदि के बारे में भी इसकी अवधारणा स्पष्ट नहीं होती। किसी से कोई बात कह दी। स्वयं की ज्ञान चेतना अविकसित होने के कारण उस पर किसी प्रकार का विचार किए बिना उस बात को एकान्ततः सत्य के रूप में मान लेने वाला व्यक्ति चौथी कोटि के मिथ्यात्व से ग्रस्त रहता है।

५. सांशयिक मिथ्यात्व

संदेह की स्थिति में किसी गलत तत्त्व को सही मान लेना अथवा यह भी ठीक हो सकता है, वह भी ठीक हो सकता है—इस प्रकार की

दोलायमान मन:स्थिति सांशयिक मिथ्यात्व कहलाता है। इसके कारण वैचारिक अस्थिरता रहती है, इसलिए आस्था किसी एक बिन्दु पर केन्द्रित नहीं हो सकती।

मिथ्यात्व के ये पांचों प्रकार यथार्थ पर आवरण डालकर व्यक्ति को गुमराह बनाने वाले हैं। इनके प्रमुख हेतु हैं—आग्रह और अज्ञान। इन दोनों हेतुओं के मिटने से ही मिथ्यात्वजनित दोष से बचा जा सकता है।

२०. व्यावहारिक मिथ्यात्व के दस प्रकार हैं—

१. अधर्म में धर्म संज्ञा
२. धर्म में अधर्म संज्ञा
३. अमार्ग में मार्ग संज्ञा
४. मार्ग में अमार्ग संज्ञा
५. अजीव में जीव संज्ञा
६. जीव में अजीव संज्ञा
७. असाधु में साधु संज्ञा
८. साधु में असाधु संज्ञा
९. अमुक्त में मुक्त संज्ञा
१०. मुक्त में अमुक्त संज्ञा

वीसवें बोल में व्यावहारिक मिथ्यात्व के दस प्रकार बतलाए गए हैं। निश्चय में तो अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ और दर्शन-मोहनीय त्रिक—मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय के उदय से होने वाली विपरीत श्रद्धारूप आत्म-परिणति मिथ्यात्व है। पर इस बात को कोई ज्ञानी व्यक्ति ही समझ सकता है। साधारण व्यक्ति निश्चय की भूमिका पर खड़ा होकर तत्त्व-बोध नहीं कर सकता। इसलिए यह अपेक्षा अनुभव की गई कि व्यवहार की भूमिका से भी मिथ्यात्व और सम्यक्त्व की पहचान करवाई जाए। इस बोल में इसी अपेक्षा को ध्यान में रखकर मिथ्यात्व को समझाया गया है।

इन दस प्रकारों में मूल प्रकार पांच ही हैं—धर्म, मार्ग, जीव, साधु और मुक्त। शेष पांच इन्हीं के प्रतिपक्षी हैं। जहां उनकी स्वतंत्र रूप से विवक्षा की जाती है, वहां दस प्रकार बतला दिए जाते हैं। प्रश्न हो सकता है कि क्या कोई धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म मान सकता है? जहां दृष्टि भ्रम हो, वहां कुछ भी माना जा सकता है और कुछ भी समझा जा सकता है। यहां मिथ्यात्व के हर प्रकार को विस्तार के साथ समझाया जा रहा है—

१. अधर्म में धर्म संज्ञा

जिन प्रवचन के अनुसार हिंसा अधर्म है और अहिंसा धर्म है। कुछ लोग छह जीवनिकाय की हिंसा करते हैं और उसे धर्म मानते हैं। उन लोगों का तर्क यह है कि जो लोग धर्म की दृष्टि से हिंसा करते हैं, क्या वे सब मूर्ख हैं ? हिंसा के बिना संसार में किसका काम चलता है। जो जीवन के लिए जरूरी है, वह धर्म ही तो है।

२. धर्म में अधर्म संज्ञा

उपवास करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, खाद्यसंयम करना आदि जितनी भी संयम और तपमूलक प्रवृत्तियां हैं, उन्हें रूढ़ि मानकर अधर्म में परिगणित कर देना।

३. अमार्ग में मार्ग संज्ञा

जो रास्ता मोक्ष की ओर ले जाने वाला नहीं है, उसे मोक्ष-मार्ग मान लेना, जैसे—नरबलि, पशुबलि आदि से स्वर्ग और मोक्ष की कल्पना करना।

४. मार्ग में अमार्ग संज्ञा

ज्ञान, दर्शन और चारित्र—ये तीनों मोक्ष के मार्ग हैं। इन तीनों की समन्वित आराधना से ही मोक्ष हो सकता है। इनको उन्मार्ग मानकर इनसे दूर रहने का प्रयत्न करना।

५. अजीव में जीव संज्ञा

जीव जैसी क्रिया—हलन-चलन, प्रकम्पन आदि देखकर परमाणुपिंड को जीव मान लेना। जैनदर्शन के अनुसार जीव की भांति अजीव में भी प्रकम्पन हो सकता है। इसलिए वह उसकी पहचान का आधार नहीं बन सकता।

६. जीव में अजीव संज्ञा

पृथ्वी, पानी, अग्नि आदि जीवों का जीवत्व समझ में न आने पर उन्हें अजीव स्वीकार कर लेना।

७. असाधु में साधु संज्ञा

अनुशासन और मर्यादा का खुला भंग करने पर भी केवल बाह्य आचार के आधार पर अथवा क्रियाकांडों और अज्ञान-कष्टों के आधार पर उस व्यक्ति को साधु समझ लेना, जिसमें साधुत्व का कोई भी गुण न हो।

८. साधु में असाधु संज्ञा

साधनाशील साधु को भी अपने अज्ञान या पूर्वाग्रह के कारण असाधु समझ बैठना।

९. अमुक्त में मुक्त संज्ञा

संसार में जितने भी अवतार होते हैं, वे किसी जन्म में मुक्त हो जाते हैं। धर्म का ह्रास देखकर वे पुनः शरीर धारण करते हैं। इस मान्यता के आधार पर उन महापुरुषों को मुक्त मान लेना, जो अभी संसार में भ्रमण कर रहे हैं।

१०. मुक्त में अमुक्त संज्ञा

ईश्वर कर्तृत्व के सिद्धान्त में जिनका विश्वास है, वे संसार की प्रवृत्तियों से निरपेक्ष, आत्म-स्वरूप में अवस्थित मुक्त आत्माओं को ईश्वर के रूप में स्वीकार नहीं करते। इस धारणा के अनुसार ईश्वर के अतिरिक्त सभी जीव संसार में रहते हैं, इसलिए वे मुक्त नहीं हो सकते।

उपर्युक्त दसों प्रकार ऐसे हैं, जो वस्तु या तत्त्व के सम्यग् अवबोध में वाधक हैं, इसलिए इन्हें मिथ्यात्व के प्रकारों में अन्तर्गभित किया गया है।

२१. कषाय के सोलह प्रकार हैं—

अनन्तानुवन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ
अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ
प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ
संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ

कषाय आत्मा की एक अवस्था है। उसके मुख्यतः चार भेद हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। क्रोध आदि आत्मा के स्वभाव नहीं, विभाव हैं। ये विजातीय तत्त्व हैं। फिर भी आत्मा से संश्लिष्ट होकर उसके अभिन्न अंग बन गए हैं। ये आत्मा के साथ रहने पर भी उसके अपने नहीं हैं। इसलिए विशेष प्रयत्न के द्वारा इन्हें अलग किया जा सकता है। पर यह स्थिति विशिष्ट साधना से ही संभव हो सकती है। आत्म विकास की चौदह भूमिकाओं में से दस भूमिका पार कर लेने के बाद इस कषाय-चतुष्टयी से छुटकारा मिलता है। उससे पहले कमबेसी रूप में हर आत्मा कषाय से भावित रहती है।

कषाय की तीव्रता और मंदता के आधार पर क्रोध, मान, माया और लोभ के चार-चार भेद किए गए हैं। सब भेदों को मिलाने से उनकी संख्या सोलह हो जाती है।

प्रथम भेद है अनन्तानुबन्धी। अनन्त अनुबन्ध—शृंखलाएं जिस कषाय के साथ जुड़ी रहती हैं, वह अनन्तानुबन्धी कषाय होता है। इन अनुबन्धों का कोई ओर-छोर नहीं होता। ये आगे-से-आगे बढ़ते जाते हैं। अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से क्रोध, मान, माया और लोभ बहुत गहरे हो जाते हैं।

दूसरा भेद है अप्रत्याख्यान। इसके अनुबन्ध कुछ शिथिल होते हैं। प्रत्याख्यान-चतुष्क इससे भी काफी हल्का हो जाता है और संज्वलन-चतुष्क बिल्कुल हल्का रहता है। इसमें कषाय का अस्तित्व है, पर उसकी सत्ता डावांडोल रहती है। वह अधिक समय तक टिक नहीं सकता।

कषाय की तीव्रता और मंदता के आधार पर किया गया यह वर्गीकरण व्यवहार में भी स्पष्ट दिखाई देता है। एक व्यक्ति का क्रोध इतना तीव्र होता है कि वह जन्म-जन्मान्तर तक उसके साथ रहता है। एक व्यक्ति का क्रोध इतना नाजुक होता है कि इस क्षण क्रोध आया दूसरे क्षण नामशेष हो गया। यह स्थिति समता की विशेष साधना से प्राप्त की जा सकती है। कषाय-चतुष्क के चारों प्रकारों का अस्तित्व पूर्ण रूप से जब समाप्त होता है, तब साधक वीतराग बन जाता है और उसके बाद वह देह को त्याग कर सिद्ध हो जाता है।

२२. कषाय के सोलह उदाहरण हैं—

अनन्तानुबन्धी—क्रोध— पत्थर की रेखा के समान
मान— पत्थर के स्तंभ के समान
माया—बांस की जड़ के समान
लोभ—कृमि रेशम के रग के समान

अप्रत्याख्यान—क्रोध—भूमि की रेखा के समान
मान—अस्थि के स्तंभ के समान
माया—मेंढे के सींग के समान
लोभ—कीचड़ के रंग के समान

प्रत्याख्यान—क्रोध—बालू की रेखा के समान
मान—काष्ठ के स्तंभ के समान
माया—चलते बैल के मूत्र की धारा के समान
लोभ—गाड़ी के खंजन के समान

संज्वलन—क्रोध—जल की रेखा के समान
मान—लता के स्तंभ के समान
माया—छिलते हुए बांस की छाल के समान
लोभ—हल्दी के रंग के समान

इक्कीसवें बोल में कषाय की न्यूनाधिकता के आधार पर होने वाले उसके वर्गीकरण की चर्चा है। किन्तु जनसाधारण उतने मात्र से तत्त्व को गहराई से नहीं समझ सकता। तत्त्वज्ञ पुरुषों का एक लक्ष्य रहा है—हर व्यक्ति को तत्त्व-बोध करवाना। उन्होंने कषाय के स्वरूप को स्पष्टता से समझाने के लिए कुछ प्रतीकों को काम में लिया है। किसी प्रतीक या उदाहरण के माध्यम से कही गई बात सुबोध हो जाती है। इससे तत्त्व की गंभीरता सरलता और सरसता में परिणत हो जाती

है। इस दृष्टि से बाईसवें बोल में कषाय के सोलह उदाहरण बतलाये गए हैं।

अनन्तानुबंधी कषाय के चार भेद हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। अनन्तानुबंधी क्रोध पत्थर की रेखा के समान है। सामान्यतः पत्थर में रेखा—दरार होती नहीं और हो जाने के बाद वह सहज रूप में मिटती नहीं। इसी प्रकार अनन्तानुबंधी क्रोध गहरी पकड़ के रूप में होता है। क्रोध की उत्पत्ति के निमित्त समाप्त हो जाने पर भी व्यक्ति शांत नहीं होता। उसका मन आग की भांति धधकता रहता है। उसके चारों ओर उत्तेजना का वलय निर्मित हो जाता है।

पत्थर की रेखा को मिटाने के लिए उसे छेनी से तराशने की अपेक्षा रहती है। इसी प्रकार अनन्तानुबंधी क्रोध को क्षान्ति रूपी छेनी से तराशने पर ही उसका प्रभाव क्षीण हो सकता है।

अनन्तानुबंधी मान पत्थर के स्तम्भ के समान है। लकड़ी का खंभा इधर-उधर हो सकता है। पर पत्थर के खंभों को झुकाना प्रयत्न-साध्य भी नहीं है। वह टूट जाता है, पर झुकता नहीं। इसी प्रकार अनन्तानुवन्धी मान रखने वाला व्यक्ति किसी भी परिस्थिति के साथ समझौता नहीं कर सकता। मृदुता का विकास ही इस स्थिति का समाधान है।

अनन्तानुबंधी माया बांस की जड़ के समान है। बांस की जड़ इतनी वक्र होती है कि वहां टेढ़ेपन के अतिरिक्त कुछ होता ही नहीं। ऐसी माया व्यक्ति को धूर्तता के शिखर पर पहुंचा देती है। इसे प्रतिहत करने के लिए ऋजुता का अभ्यास आवश्यक है।

अनन्तानुबंधी लोभ कृमि-रेशम के समान है। इस लोभ का रंग दिन-दिन गहरा होता जाता है। अन्य रंग प्रयत्न करने पर उतर जाते हैं। मांजिष्ठ का रंग पक्का होता है। कृमि-रेशम उससे भी अधिक पक्के रंग वाला होता है। अनन्तानुबंधी लोभ का प्रभाव भी संतोष रूपी रंगकाट के द्वारा समाप्त हो सकता है।

अप्रत्याख्यान कषाय अनन्तानुबंधी से कुछ हल्का होता है। इसकी तुलना क्रमशः भूमि की रेखा, अस्थि के स्तम्भ, मेंढ़े के सींग और कीचड़ के रंग से की गई है। कड़ी भूमि में पड़ी हुई दरार को सामान्यतः मिटाना कठिन है। हवा उसे भर नहीं सकती, किन्तु वर्षा के योग से भूमि में नमी का प्रवेश होता है, वह रेखा सम हो जाती है। इसी

प्रकार अस्थि-स्तम्भ भी पत्थर के खंभे से कुछ लचीला होता है। विशेष प्रयत्न के द्वारा उसे इधर-उधर मोड़ा जा सकता है।

अप्रत्याख्यान माया मेंढ़े के सींग के समान है। मेंढ़े के सींग में बांस की जड़ जितनी वक्रता नहीं होती, फिर भी वह काफी टेढ़ा रहता है। अप्रत्याख्यान लोभ कीचड़ के रंग जैसा है। वस्त्र में कीचड़ के धब्बे लग जाएं तो वे सहजता से नहीं छूटते। इसी प्रकार आत्मा पर लगे हुए अप्रत्याख्यान लोभ के धब्बे उसे कलुषित बनाए रखते हैं।

प्रत्याख्यान कषाय-चतुष्क बालू की रेखा, काठ के स्तम्भ, चलते हुए बैल के मूत्र की धारा और गाड़ी के खंजन के समान है। बालू की रेखा साधारण-सी हवा से मिट जाती है। काष्ठ-स्तम्भ को प्रयत्न से झुकाया जा सकता है। चलते हुए बैल की मूत्रधारा टेढ़ी-मेढ़ी होने पर भी उलझी हुई नहीं होती। गाड़ी का खंजन वस्त्र को विद्रूप बनाता है, फिर भी वह केरोसिन आदि तैल के प्रयोग से जल्दी ही साफ हो जाता जाता है। इसी प्रकार प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया और लोभ भी क्षमा आदि की साधना से काफी हल्के हो जाते हैं।

संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ क्रमशः जल की रेखा के समान, लता-स्तम्भ के समान, छिलते हुए बांस की छाल के समान और हल्दी के रंग के समान हैं।

पानी की रेखा क्षणिक होती है। वह अपने अस्तित्व को टिकाकर रख ही नहीं सकती। लता-स्तम्भ में कड़ापन नाम का कोई तत्त्व होता ही नहीं। छिलते हुए बांस की छाल टेढ़ी होती है। पर वह सरलता से सीधी हो जाती है। हल्दी का रंग वस्त्र पर चढ़ता है, पर धूप दिखाते ही वह उड़ जाता है। इसी प्रकार संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ व्यक्ति को समय और परिणाम दोनों दृष्टियों से बहुत कम प्रभावित कर पाते हैं।

२३. कषाय से होने वाले अभिघात के चार प्रकार हैं—

१. अनन्तानुबन्धी-चतुष्क से सम्यक्त्व का अभिघात
२. अप्रत्याख्यान-चतुष्क से देशव्रत का अभिघात
३. प्रत्याख्यान-चतुष्क से महाव्रत का अभिघात

जीव की आदि नहीं है। कषाय की भी आदि नहीं है। वह अनादिकाल से जीव के साथ जुड़ा हुआ है। जीव को संसार में परिभ्रमण कराने वाला भी वही है। जब तक कषाय का अस्तित्व रहता है, जन्म और मृत्यु की शृंखला का अन्त नहीं होता। यह निर्विवाद तथ्य है। पर प्रश्न यह है कि कषाय केवल मोक्ष का ही बाधक है या अन्य भी किसी तत्त्व का अभिघात करता है? कषाय के उदय से व्यक्ति व्यावहारिक जीवन में ही असफल रहता है या उससे आत्मगुणों का भी घात होता है?

आत्मा के दो विशेष गुण हैं—सम्यक्त्व और चारित्र। सम्यक्त्व का अर्थ है सही दृष्टिकोण और चारित्र का अर्थ है आत्मसंयम। ये दो गुण ऐसे हैं, जिनके द्वारा जीव अपने मूल स्वभाव को प्राप्त कर सकता है। जीव एक शुद्ध, बुद्ध, चित् और आनन्दमय तत्त्व है। क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चार कषाय उसको विकृत बना देते हैं। आत्मा की विकृति जितनी-जितनी अधिक है, आत्मगुणों का प्रतिघात उतनी-मात्रा में होता है। कषाय की मंदता और तीव्रता के आधार पर अभिघात के भी चार प्रकार हैं।

अनन्तानुबन्धी-चतुष्क से सम्यक्त्व का अभिघात होता है।

सम्यक्त्व का अभिघात होने से आत्मा, परमात्मा, धर्म, साधना आदि के सम्बन्ध में दृष्टि-विपर्यय हो जाता है। जो तत्त्व सही है, उसके बारे में धारणा गलत बन जाती है। जिस प्रकार हरा और पीला चश्मा लगाने से किसी भी रंग का पदार्थ हरा और पीला दिखाई देता है, वैसे ही सम्यक्त्व के अभाव में व्यक्ति की तत्त्व-श्रद्धा विपरीत हो जाती है।

अप्रत्याख्यान-चतुष्क से देशव्रत का अभिघात होता है।

देशव्रत का अभिघात होने से व्यक्ति गलत तत्त्व को गलत समझने पर भी उसे छोड़ने के लिए संकल्पबद्ध नहीं हो सकता। उसकी ज्ञ-परिज्ञा विकसित रहती है, किन्तु प्रत्याख्यान-परिज्ञा जाग नहीं पाती।

प्रत्याख्यान-चतुष्क से महाव्रत का अभिघात होता है।

महाव्रत का अभिघात होने से व्यक्ति अपने संकल्प को पूर्णता के बिन्दु तक नहीं ले जा सकता है। उसकी व्रत-चेतना खण्डशः विकसित होती है। इसलिए वह आंशिक रूप से व्रत स्वीकार करता है, पर महाव्रत की साधना नहीं कर सकता।

संज्वलन-चतुष्क से यथाख्यात चारित्र का अभिघात होता है।

यथाख्यात चारित्र का अभिघात होने से व्यक्ति वीतराग नहीं बन सकता। वीतरागता हर अध्यात्मनिष्ठ व्यक्ति का लक्ष्य होता है। पर वह तब तक उपलब्ध नहीं हो सकती, जब तक संज्वलन कषाय का उदय रहता है।

ये चारों ही अभिघात आत्मगुणों के विकास में बाधक हैं। अतः विशेष पुरुषार्थ के द्वारा कषाय-चतुष्टयी को क्षीण करने का प्रयत्न होना बहुत आवश्यक है।

२४. नोकषाय के नौ प्रकार हैं—

१. हास्य	**६. जुगुप्सा**
२. रति	**७. स्त्रीवेद**
३. अरति	**८. पुरुषवेद**
४. भय	**९. नपुंसकवेद**
५. शोक	

कषाय के सोलह भेदों और उनके उदाहरणों को समझने के बाद नोकषाय को समझना भी जरूरी है। सामान्यतः नो शब्द निषेध का वाचक होता है। किन्तु यहां यह सादृश्य का वाचक है। नोकषाय कषाय को उत्तेजना देने वाला है, इसलिए वह कषाय का ही प्रतिरूप है। वह कुछ हल्का है, अतः उसके लिए दूसरे शब्द का प्रयोग किया है।

हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद—ये नोकषाय के नौ प्रकार हैं। इनमें पहला प्रकार है हास्य हास्य दो प्रकार का होता है—स्मित और अट्टहास। स्मित से कषाय

को सहारा नहीं मिलता, इसलिए वह हेय नहीं है। अट्टहास आगे चलकर कषाय में परिणत हो जाता है। कौरव और पांडवों के बीच हुआ महाभारत हास्य की ही तो परिणति था। यदि द्रौपदी कौरवों का उपहास नहीं करती तो संभव है महाभारत नहीं होता।

रति और अरति ये दोनों विरोधी शब्द हैं। असंयम में अनुराग और संयम के प्रति उदासीनता इनकी निष्पत्ति है। इससे चेतना की ऊर्जा का प्रवाह विपरीत दिशा में बहने लगता है। विपरीतगामी प्रवाह व्यक्ति को अशक्त बना देता है। इससे चैतसिक निर्मलता मलिनता में बदल जाती है।

भय, शोक और जुगुप्सा भी कषाय की उत्पत्ति के हेतु हैं। जिसके कारण भय उत्पन्न होता है, उसके प्रति द्वेष होना अस्वाभाविक नहीं है। इसी प्रकार प्रिय के वियोग और अप्रिय के संयोग से व्यक्ति शोक-विह्वल बन जाता है। ऐसी परिस्थितियों में ही जुगुप्सा का बीज-वपन होता है। ये तीनों तत्त्व आत्महित में बाधक हैं, इसलिए इन्हें भी समाप्त करने का प्रयत्न होना जरूरी है।

स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद भी नोकषाय के प्रकार हैं। स्त्री की पुरुषाभिलाषा, पुरुष की स्त्री सम्बन्धी अभिलाषा और नपुंसक की उभयमुखी अभिलाषा वेद कहलाती है। ये मोह कर्म की प्रकृतियां हैं। इनके मूल में राग-द्वेष मूलक वृत्तियों का प्रभाव है। इनके साथ में जब तक अशुभ योग जुड़े रहते हैं, वेद व्यक्त विकार के रूप में परिणत हो जाते हैं। सातवें गुणस्थान में अशुभयोग नहीं है, इस दृष्टि से वहां व्यक्त विकार भी नहीं है। वेद का अस्तित्व नौवें गुणस्थान तक है। कषाय की भांति नोकषाय भी वीतरागता की स्थिति में बाधक है। इसलिए विशेष साधना के द्वारा नोकषाय को क्षीण कर आत्मस्वरूप को प्राप्त किया जा सकता है।

२५. चारित्र के पांच प्रकार हैं—

१. सामायिक चारित्र
२. छेदोपस्थाप्य चारित्र
३. परिहारविशुद्धि चारित्र
४. सूक्ष्मसम्पराय चारित्र
५. यथाख्यात चारित्र

दर्शन मोहनीय कर्म के विलय से सम्यक्त्व उपलब्ध होता है और चारित्र मोहनीय के विलय से चारित्र प्राप्त होता है। मोहनीय कर्म को अट्ठाईस प्रकृतियां हैं। इनमें अनन्तानुबन्धी कषाय-चतुष्क और सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय तथा मिथ्यात्व मोहनीय का सम्बन्ध सम्यक्त्व से है। चारित्र का सम्बन्ध है सोलह कषाय और नौ नोकषाय से। कषाय और नोकषाय का जितना-जितना क्षयोपशम, उपशम और क्षय होता है, चारित्र की उज्ज्वलता उतनी-उतनी बढ़ जाती है।

इस वर्ग के पचीसवें बोल में चारित्र के पांच प्रकार बतलाए गए हैं—

१. **सामायिक चारित्र**—'सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि'—इस वाक्य का उच्चारण करते हुए संक्षेप में सपाप प्रवृत्तियों का प्रत्याख्यान करना।

२. **छेदोपस्थाप्य चारित्र**—विस्तार से विभागपूर्वक पांच महाव्रतों को स्वीकार करना। अथवा पूर्व पर्याय को छेद कर दूसरी पर्याय में उपस्थापन करना।

३. **परिहारविशुद्धि चारित्र**—एक निश्चित अवधि तक विशिष्ट तपस्या पूर्वक चारित्र की आराधना करना।

४. **सूक्ष्मसम्पराय चारित्र**—दसवें गुणस्थान का चारित्र। इस चारित्र में कषाय (लोभ) का सूक्ष्म अंश मात्र अवशेष रहता है।

५. **यथाख्यात चारित्र**—वीतराग का चारित्र। मोहकर्म का उपशम या क्षय होने से यह चारित्र उपलब्ध होता है।

सामायिक और छेदोपस्थाप्य चारित्र छठे से नौवें गुणस्थान तक होते हैं। परिहारविशुद्धि चारित्र छठे और सातवें गुणस्थान में होता है। सूक्ष्मसम्पराय की प्राप्ति दसवें गुणस्थान में होती है। यथाख्यात चारित्र ग्यारहवें से चौदहवें गुणस्थान तक होता है।

प्रथम चार चारित्र क्षायोपशमिक भाव हैं। क्षयोपशम की तर-तमता के आधार पर उनके अनेक भेद हो सकते हैं। क्योंकि सब जीवों का क्षयोपशम एक समान नहीं होता। यथाख्यात चारित्र मोह कर्म के उपशम या क्षय सापेक्ष है। उसमें कोई तारतम्य नहीं होता। इस-लिए यथाख्यात चारित्र वालों की चारित्रिक उज्ज्वलता एक समान होती है।

द्वितीय वर्ग

१. अजीव के दो प्रकार हैं—

१. अरूपी   २. रूपी

अरूपी अजीव के चार प्रकार हैं—

१. धर्मास्तिकाय   ३. आकाशास्तिकाय

२. अधर्मास्तिकाय   ४. काल

रूपी अजीव का एक प्रकार है—

१. पुद्‌गलास्तिकाय

'कालू तत्त्वशतक' के प्रथम वर्ग के पच्चीस बोलों में विविध दृष्टियों से जीव तत्त्व का विवेचन किया गया है। जीव का प्रतिपक्षी तत्त्व है अजीव। जीव और अजीव—ये दो ही तत्त्व हैं इस संसार में। इसलिए जीव का विश्लेषण करने के बाद दूसरे वर्ग में अनुक्रम से अजीव के सम्वन्ध में चर्चा की जा रही है।

अजीव वह तत्त्व है, जिसमें चैतन्य गुण का सर्वथा अभाव है। वह जड़ पदार्थ है। उसके दो भेद हैं—अरूपी और रूपी। दूसरे शब्दों में अमूर्त और मूर्त। अरूपी और अमूर्त ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं।

अरूपी पदार्थ का कोई आकार नहीं होता। उसमें वर्ण, गंध, रस और स्पर्श भी नहीं होता। न वह आंखों से देखा जा सकता है, न सूंघा जा सकता है, न चखा जा सकता है और न छूकर ही उसका अनुभव किया जा सकता है। इन्द्रिय-ग्राह्य न होने पर भी उसका अस्तित्व है। अतीन्द्रिय ज्ञानी उसे जानते हैं और दूसरों को वोध देने के लिए उसका निरूपण करते हैं। उस निरूपण के आधार पर अरूपी अजीव तत्त्व बुद्धिगम्य हो जाता है।

रूपी का अर्थ है रूपवान्। शाब्दिक परिप्रेक्ष्य में यह शब्द केवल रूप आकार या वर्ण का वाचक है, किन्तु इसका वाच्यार्थ है वर्ण, गंध,

रस और स्पर्श का समन्वित रूप। क्योंकि एक वर्ण के ग्रहण से गंध, रस, स्पर्श आदि स्वतः गृहीत हो जाते हैं।

जिस पदार्थ में रूप है, उसमें अच्छा या बुरा गन्ध होगा ही। जिस पदार्थ में गन्ध है, उसमें खट्टा-मीठा या कोई और रस होगा ही। इसी प्रकार जिस पदार्थ में रस है, उसमें शीत, उष्ण, स्निग्ध या रूक्ष कोई न कोई स्पर्श होगा ही। किसी पदार्थ में वर्ण, गंध, रस या स्पर्श में से किसी का अस्तित्व हो और किसी का न हो, यह नहीं हो सकता। क्योंकि इनका परस्पर अविनाभावी सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध को कभी नकारा नहीं जा सकता। इसलिए रूपी या मूर्त पदार्थ में वर्ण, गंध, रस और स्पर्श की उपस्थिति अनिवार्य है।

अरूपी अजीव तत्त्व के चार प्रकार बताए गए हैं—

धर्मास्तिकाय	आकाशास्तिकाय
अधर्मास्तिकाय	काल

'गतिसहायोधर्मः' गतिशील जीव और पुद्‌गलों की गति में उदासीन भाव से सहयोगी बनने वाला तत्त्व धर्म है। अस्ति का अर्थ है त्रैकालिक पदार्थ और काय का अर्थ है प्रदेश-समूह। गति सहायता करने वाला प्रदेश-समूह धर्मास्तिकाय है। इसी प्रकार 'स्थितसहायोऽधर्मः' स्थिति में सहायता करने वाला प्रदेश-समूह अधर्मास्तिकाय है। 'अवगाहलक्षणं आकाशः' सब पदार्थों को आश्रय देने वाला प्रदेश-समूह आकाशास्तिकाय है। जो तत्त्व पदार्थों के परिवर्तन का हेतु है, वह काल है। ये चारों ही तत्त्व अमूर्त हैं। इनका कोई आकार नहीं है।

रूपी अजीव तत्त्व एक ही प्रकार का है। वह है पुद्‌गल। वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श इसके अपरिहार्य धर्म हैं। पुद्‌गल के अतिरिक्त ये धर्म कहीं भी नहीं मिलते। जहां पुद्‌गल है, वहां वर्ण, गन्ध आदि की सत्ता निश्चित है। पुद्‌गल शब्द जैनों का पारिभाषिक शब्द होने पर भी अपने आप में बहुत अर्थवान् है। आश्चर्य होता है कि कोषकारों ने इस शब्द को कैसे छोड़ दिया। मेरे अभिमत से मूर्त पदार्थ को अभिव्यक्ति देने वाला ऐसा कोई दूसरा शब्द नहीं है। इंग्लिश में पदार्थ के लिए मेटेरियल शब्द का प्रयोग होता है, किन्तु वह अधूरा प्रतीत होता है।

पुद्गल शब्द पूरा है। शब्द किसी का अपना नहीं होता। इसलिए इसे जैन पारिभाषिक शब्द मानकर उलझने की जरूरत नहीं है। आग्रह और संकीर्णता से मुक्त होकर मूर्त पदार्थ के लिए पुद्गल शब्द का प्रयोग होने से यह काफी व्यापक और प्रभावशाली प्रमाणित हो सकता है।

२. पुद्गल के पांच संस्थान हैं—

१. वृत्त (मोदक का आकार)
२. परिमंडल (चूड़ी का आकार)
३. त्रिकोण
४. चतुष्कोण
५. आयत

दूसरे बोल में पुद्गल के पांच संस्थान बतलाए गए हैं। संस्थान का अर्थ है आकार। जीव का कोई आकार नहीं होता, इसलिए उसमें कोई संस्थान भी नहीं होता, अजीव के पांच भेद हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल और पुद्गलास्तिकाय। इन पांचों में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल—ये चार अमूर्त हैं। इनमें रूप नहीं होता। रूप के बिना आकार भी नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में एक पुद्गल तत्त्व ही ऐसा बचता है, जो रूपवान् और आकारवान् है।

सामान्यतः संस्थान दो प्रकार का होता है—इत्थंस्थ और अनित्थंस्थ। अनित्थंस्थ का अर्थ है अनियत आकार। कोई नियत आकार न होने के कारण इसके भेदों का निर्धारण नहीं हो सकता। उपर्युक्त पांच नियत आकारों के अतिरिक्त अन्य सभी संस्थान इसी में अन्तर्गभित हैं।

इत्थंस्थ का अर्थ है निश्चित आकार। उक्त पांचों भेद इसी संस्थान के हैं। इनमें वृत्त और परिमंडल संस्थान गोलाकार पदार्थ के वाचक हैं। इन दोनों संस्थानों वाले पदार्थ गोल होने पर भी भिन्न-भिन्न आकृतियों के बोधक हैं। वृत्त आकार समझाने के लिए मोदक या गेंद का उदाहरण दिया जाता है। ये सघन और सतल होते हैं। परिमंडल संस्थान का उदाहरण है चूड़ी। चूड़ी गोलाकार होने पर भी मोदक की भांति सघन और सतल नहीं है। त्रिकोण संस्थान को सिंघाड़े के आकार से उपमित किया जा सकता है। चतुष्कोण संस्थान में वे सब

वस्तुएं आ जाती हैं, जो चौकोर होती हैं। वैसे पंचकोण, षट्कोण आदि आकृतियां भी होती हैं, पर पांच संस्थानों में इनकी गणना न होने से इनका समावेश अनित्थंस्थ संस्थान में हो जाता है।

पांचवें संस्थान का नाम है आयत। यह वस्तु की लंबाई की सूचना देने वाला है। जैनशास्त्रों में इसके स्थान पर एक नाम आता है—पृथुल। इसका अर्थ होता है विस्तीर्ण। वैसे आयत शब्द लम्बा और विस्तृत—इन दोनों अर्थों का बोधक है। इस दृष्टि से आयत और पृथुल एक ही अर्थ के वाचक दो शब्द हैं।

ये पांचों संस्थान पुद्गल के अतिरिक्त अन्य किसी भी पदार्थ में नहीं होते। इसलिए ये पुद्गल के गुण तो नहीं, किन्तु उसके लक्षण रूप में स्वीकृत हो सकते हैं।

३. जीव के प्रयोग में आने वाले पुद्गल स्कन्धों की आठ वर्गणाएं हैं—

१. औदारिक वर्गणा
२. वैक्रिय वर्गणा
३. आहारक वर्गणा
४. तैजस वर्गणा
५. कार्मण वर्गणा
६. मनो वर्गणा
७. वचन वर्गणा
८. श्वासोच्छ्वास वर्गणा

पुद्गल के दो रूप हैं—परमाणु और स्कन्ध। द्रव्य की दृष्टि से पुद्गल अनन्त हैं। क्षेत्र का सीमांकन किया जाए तो वह सम्पूर्ण लोक में है। काल की अपेक्षा वह आदि-अन्त रहित है। भाव की दृष्टि से वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श युक्त होने के कारण रूपी है। उसका गुण है ग्रहण। ग्रहण अर्थात् मिलन और बिखराव। 'परमाणु' पुद्गल की सबसे छोटी इकाई है और अचित्त महास्कन्ध उसका सबसे बड़ा रूप है। पुद्गल हमारे लिए बहुत उपयोगी चीज है, पर बहुत से पुद्गल ऐसे भी हैं जिन्हें हम काम में नहीं ले सकते। परमाणु ही नहीं, ऐसे अनन्त-अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध भी हैं, जिनका हमारे लिए सीधा कोई उपयोग नहीं है। जो पुद्गल स्कन्ध हमारे काम में आते हैं, उन्हें वर्गणा कहा जाता है। वर्गणा का अर्थ है—सजातीय पुद्गलों का समूह। वे वर्गणाएं आठ हैं—

औदारिक शरीर के रूप में प्रयुक्त होने वाले सजातीय पुद्गल-समूह का नाम औदारिक-वर्गणा है।

वैक्रिय शरीर के रूप में प्रयुक्त होने वाले सजातीय पुद्गल-समूह का नाम वैक्रिय-वर्गणा है।

आहारक शरीर के रूप में प्रयुक्त होने वाले सजातीय पुद्गल-समूह का नाम आहारक-वर्गणा है।

तैजस शरीर के रूप में प्रयुक्त होने वाले सजातीय पुद्गल-समूह का नाम तैजस-वर्गणा है।

कार्मण शरीर के रूप में प्रयुक्त होने वाले सजातीय पुद्गल-समूह का नाम कार्मण-वर्गणा है।

मन रूप में प्रयुक्त होने वाले सजातीय पुद्गल-समूह का नाम मनोवर्गणा है।

वचन रूप में प्रयुक्त होने वाले सजातीय पुद्गल-समूह का नाम वचनवर्गणा है।

श्वासोच्छ्वास रूप में प्रयुक्त होने वाले सजातीय पुद्गल-समूह का नाम श्वासोच्छ्वास-वर्गणा है।

इन आठों वर्गणाओं में सबसे स्थूल वर्गणा औदारिक है और सबसे सूक्ष्म वर्गणा कार्मण है।

सूक्ष्म वर्गणा में संख्या की दृष्टि से परमाणु स्थूल वर्गणा से अधिक होते हैं। सब वर्गणाएं अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध हैं। इनमें मन, वचन और कर्म वर्गणा के अतिरिक्त शेष सब वर्गणाएं अष्टस्पर्शी हैं। ये वर्गणाएं पूरे लोक में व्याप्त हैं, किन्तु इनका प्रयोग तभी हो सकता है, जब ये जीव द्वारा गृहीत हो जाएं। संसार का कोई भी प्राणी इन वर्गणाओं में से अपने-अपने योग्य वर्गणाओं के योग बिना अपना काम नहीं कर सकता। वह हर क्षण नई वर्गणा का स्वीकार, परिणमन और विसर्जन करता रहता है।

४. पुद्गल के चार लक्षण हैं—

१. स्पर्श　३. गन्ध

२. रस　४. वर्ण

लक्षण का अर्थ है पहचान। 'लक्ष्यन्ते परिचीयन्ते पुद्गलाः यैस्तानि

लक्षणानि'। पुद्गल की पहचान के जो हेतु हैं, वे ही उसके लक्षण हैं। पुद्गल का शाब्दिक अर्थ है—'पूरणगलनधर्मत्वात् पुद्गलः'। जिसमें पूरण—एकीभाव और गलन—पृथग्भाव होता है, वह पुद्गल है। यह 'जैन सिद्धान्त दीपिका' की परिभाषा है। इसी ग्रन्थ में पुद्गल के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए लिखा गया है—'स्पर्शरसगन्धवर्णवान् पुद्गलः'। जो द्रव्य स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण युक्त होता है, वह पुद्गल है। इस व्याख्या का फलित यह है कि जो देखा जा सके, सूंघा जा सके, चखा जा सके और जिसका स्पर्श किया जा सके, वह पुद्गल है। यहां इन्द्रियों द्वारा गृहीत होने वाले पदार्थ को पुद्गल माना गया है, पर उक्त परिभाषा में एक इन्द्रिय छूट गई है। जो सुना जाता है, वह पुद्गल है, इस व्याप्ति को स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं है। इस दृष्टि से 'स्पर्शरसगन्धवर्णवान्' के स्थान पर 'स्पर्शरसगन्धवर्ण-शब्दवान् पुद्गलः' ऐसा उल्लेख होना चाहिए था। पर यह उल्लेख निर्विवाद नहीं रहता, इसलिए यहां शब्द को छोड़ दिया गया है।

पुद्गल की परिभाषा में शब्द को क्यों छोड़ा गया? इस प्रश्न का सीधा-सा उत्तर यह है, शब्द पुद्गल का ऐकान्तिक लक्षण नहीं है। शब्द के बिना भी पुद्गल रह सकता है। अर्थात् शब्द पुद्गल ही है, पर पुद्गल शब्दात्मक हो हो, यह आवश्यक नहीं है। शब्द केवल वचन वर्गणा के पुद्गलों का धर्म है। जबकि स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण के बिना पुद्गल का कोई अस्तित्व ही नहीं रहता। इसलिए उसके लक्षणों में इन चारों का विशेष रूप से ग्रहण हुआ है।

संसार में दो ही प्रकार के पदार्थ होते हैं—मूर्त और अमूर्त। अमूर्त पदार्थों में स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण नहीं होते, इसलिए वे पौद्गलिक नहीं होते। मूर्त पदार्थों में ये चारों तत्त्व पाए जाते हैं, इसलिए वे पौद्गलिक हैं।

स्पर्श आठ हैं, रस पांच हैं, गन्ध दो हैं और वर्ण पांच हैं। प्रत्येक पुद्गल में ये सभी तत्त्व हों, जरूरी नहीं है। सबसे छोटा पुद्गल होता है—परमाणु पुद्गल। उसमें एक रस, एक गन्ध, एक वर्ण और दो स्पर्श होते हैं—'एकरसगन्धवर्णो द्विस्पर्शः' अनन्तानन्तप्रदेशी स्थूल स्कन्ध में आठ स्पर्श, पांच रस, दो गन्ध और पांच वर्ण पाए जाते हैं।

५. इन्द्रियों के तेईस विषय हैं—

श्रोत्र इन्द्रिय के तीन विषय हैं—

१. जीव शब्द
२. अजीव शब्द
३. मिश्र शब्द

चक्षु इन्द्रिय के पांच विषय हैं—

१. कृष्ण
२. नील
३. रक्त
४. पीत
५. श्वेत

घ्राण इन्द्रिय के दो विषय हैं—

१. सुगन्ध
२. दुर्गन्ध

रसन इन्द्रिय के पांच विषय हैं—

१. तिक्त
२. कटु
३. कषाय
४. आम्ल
५. मधुर

स्पर्शन इन्द्रिय के आठ विषय हैं—

१. शीत
२. उष्ण
३. स्निग्ध
४. रूक्ष
५. कर्कश
६. मृदु
७ गुरु
८. लघु

इन्द्रियां ज्ञान करने का साधन हैं। इसलिए ये ग्राहक हैं। इनके ग्राह्य तत्त्व विषय कहलाते हैं। इन्द्रियां पांच हैं और इनके विषय भी पांच हैं—शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श। एक-एक विषय का विस्तार किया जाए तो इनकी संख्या तेईस हो जाती है।

पांच इन्द्रियों में सबसे पहली इन्द्रिय है श्रोत्र। श्रोत्र इन्द्रिय का विषय है शब्द। शब्द क्या है? उसके कितने प्रकार हैं? उसका उपयोग क्या है? ये ऐसे प्रश्न हैं, जो शब्द के सम्बन्ध में अधिक विस्तार से जानकारी कराने वाले हैं। पहला प्रश्न है—शब्द क्या है? जो बोला

जाता है, वह शब्द है। यह शब्द की सापेक्ष परिभाषा है। जो ध्वनित होता है, वह शब्द है। यह भी एक सापेक्ष परिभाषा है। निरपेक्ष प्रतिपादन से किसी भी तत्त्व का सही बोध नहीं हो सकता। इसलिए तत्त्व-बोध की दिशा में सापेक्षता के मूल्य को नकारा नहीं जा सकता।

शब्द के तीन प्रकार हैं—जीव शब्द, अजीव शब्द और मिश्र शब्द। व्याकरण ग्रन्थों में जीव-शब्द के उत्पत्तिस्थानों का उल्लेख करते हुए कहा गया है—

अष्टौ स्थानानि वर्णानामुर: कण्ठ: शिरस्तथा।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकौष्ठौ च तालु च॥

हृदय, कण्ठ, शिर, जिह्वामूल, दांत, नासिका, होंठ और तालु—ये आठ स्थान हैं, जहां से शब्द की उत्पत्ति होती है। इन आठों स्थानों का सीधा सम्बन्ध जीव से है, इसलिए इनसे होने वाला शब्द जीव शब्द कहलाता है।

पुद्‌गलों के संघर्षण से जो ध्वनि होती है, वह अजीव शब्द है। वीणा, झालर, ताल, कांस्य आदि के शब्द अजीव शब्द हैं। खटखट करना, चुटकी बजाना, पांव पटकना आदि क्रियाओं से जो शब्द होता है, वह भी अजीव शब्द है।

उपर्युक्त आठ स्थानों और वाद्यों का योग होने पर जो शब्द निकलता है, वह मिश्र शब्द है।

अब प्रश्न यह है कि शब्द का उपयोग क्या है? शब्द सार्थक भी होते हैं और निरर्थक भी। निरर्थक शब्दों का कोई अर्थ नहीं होता, कोई उपयोग नहीं होता। पर सार्थक शब्द, फिर चाहे वे शब्दात्मक हों या ध्वन्यात्मक, प्राणी जगत् की भावना को अभिव्यक्ति देते हैं। समूहचेतना में एक-दूसरे को समझने के लिए शब्द ही एक सशक्त माध्यम बनता है। जब तक अतीन्द्रिय ज्ञान उपलब्ध न हो जाए, विकसित चेतना वाले प्राणी अपने भावों को शब्दों के रथ पर आरूढ़ करके ही समूचे व्यवहार का संचालन करते हैं।

दूसरी इन्द्रिय है चक्षु। चक्षु इन्द्रिय का विषय है—वर्ण।

वर्ण का अर्थ है रंग। उसके पांच प्रकार हैं—कृष्ण, नील, रक्त, पीत और श्वेत। इन रंगों के संयोग से अनेक नये रंग उत्पन्न हो सकते

हैं। उन संयोगजन्य रंगों की संख्या का कोई निर्धारण नहीं है। संसार में जितने दृश्य पदार्थ हैं, जिनको हम देख रहे हैं, उन सब में ये पांचों वर्ण विद्यमान रहते हैं। फिर भी जिस पदार्थ में जिस रंग की प्रमुखता होती है, वह वैसा ही दिखाई देता है और उसके आधार पर हम उसे काला, नीला, लाल, पीला या सफेद कह देते हैं।

'परमाणु' पुद्गल की सबसे छोटी इकाई है। वह दृश्य है, पर हम उसे इन चर्मचक्षुओं से देख नहीं सकते। उस परमाणु में भी कम से कम एक वर्ण आदि की उपस्थिति निश्चित रूप से रहती है। क्योंकि उनके अभाव में उसकी पौद्गलिकता प्रमाणित नहीं हो सकती।

तीसरी इन्द्रिय है घ्राण। घ्राण इन्द्रिय का विषय है—गन्ध।

गन्ध के दो प्रकार हैं—सुगन्ध और दुर्गन्ध। मनोज्ञ परिमल को सुगन्ध कहा जाता है और अमनोज्ञ परिमल को दुर्गन्ध। कौन-सी गन्ध मनोज्ञ होती है और कौन-सी अमनोज्ञ? इसके लिए कोई निश्चित मर्यादा नहीं है। क्योंकि एक ही गन्ध किसी के लिए मनोज्ञ हो सकती है और किसी के लिए अमनोज्ञ। चर्मकार चमड़े के जूते बनाता है। वह दिन-रात चमड़े के बीच में रहता है। चमड़े की गन्ध उसे दुर्गन्ध नहीं लगती। पर कोई अन्य व्यक्ति उधर से गुजर भी जाता है, तो उसके लिए वह गन्ध असह्य हो उठती है। इस दृष्टि से देखा जाए तो सुगन्ध और दुर्गन्ध का वर्गीकरण स्थिर नहीं है। फिर भी कुछ चीजें ऐसी हैं, जो गन्ध को दो प्रकारों में बांटती हैं। भगवती सूत्र ८/१०९ में कोष्ठपुट चूर्ण को सुगन्ध और मृतक शरीर को दुर्गन्ध के निदर्शन रूप में प्रस्तुत किया है।

चौथी इन्द्रिय है रसना। इसका विषय है—रस।

रस के पांच प्रकार हैं—तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल और मधुर। रसों का ग्रहण रसना (जिह्वा) करती है, इसलिए इन्हें रसनेन्द्रिय के विषय रूप में स्वीकार किया गया है। सौंठ का स्वाद तिक्त होता है। नीम का रस कटु होता है। हरीतकी का रस कसैला होता है। इमली का रस अम्ल (खट्टा) होता है और चीनी का स्वाद मधुर होता है। मूलतः रस पांच हैं। इनके मिश्रण से नए रसों की निष्पत्ति भी हो सकती है, पर गौण होने के कारण उनका ग्रहण नहीं किया गया है।

संसार में जितने प्राणी हैं, उनमें पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और

वनस्पति के जीवों को छोड़कर शेष सब जीवों के रसनेन्द्रिय होती है। जैसे-जैसे चेतना विकसित होती है, रस-बोध की क्षमता भी बढ़ती जाती है।

पांचवीं इन्द्रिय है स्पर्शन। इसका विषय है—स्पर्श।

स्पर्श के आठ प्रकार हैं—शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, कर्कश, मृदु, गुरु और लघु। इनमें प्रथम चार स्पर्श मूल के हैं। शेष चार स्पर्श सापेक्ष हैं। शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष स्पर्श की बहुलता और न्यूनता के आधार पर लघु, गुरु, मृदु और कर्कश स्पर्श बनते हैं। रूक्ष स्पर्श की बहुलता से लघु स्पर्श होता है। स्निग्ध स्पर्श की बहुलता से गुरु स्पर्श होता है। स्निग्ध और उष्ण स्पर्श की बहुलता से मृदु स्पर्श बनता है तथा शीत और रूक्ष स्पर्श की बहुलता से कर्कश स्पर्श बनता है।

६. कर्म के आठ प्रकार हैं—

१. ज्ञानावरणीय	५. आयुष्य
२. दर्शनावरणीय	६. नाम
३. वेदनीय	७ गोत्र
४. मोहनीय	८. अन्तराय

आठ कर्मों में चार घनघात्य प्रकृतियां एकांत अशुभ हैं—

१. ज्ञानावरणीय	३. मोहनीय
२. दर्शनावरणीय	४. अन्तराय

आठ कर्मों में चार अघात्य प्रकृतियां शुभ-अशुभ दोनों हैं—

१ वेदनीय	३. गोत्र
२. नाम	४. आयुष्य

इस वर्ग के तीसरे बोल में पुद्गल की आठ वर्गणाएं बताई गई हैं। उनमें एक वर्गणा है—कार्मण वर्गणा। यह वर्गणा कार्मण शरीर के रूप में परिणत होती है। इसका सम्बन्ध कर्म से है। कर्म क्या है? प्राणी की अपनी शुभ और अशुभ प्रवृत्ति के द्वारा आकृष्ट पुद्गल स्कन्ध (कर्म वर्गणा) जो आत्मा के साथ एकीभूत हो जाता है, कर्म

कहलाता है। कर्म मूलतः एक ही प्रकार का है। फिर भी छठे बोल में उसके आठ प्रकार बतलाए गए हैं। यह विभाग कर्मों के कार्य की अपेक्षा से है।

आत्मा की ज्ञान-चेतना को आवृत करने वाला ज्ञानावरणीय कर्म है।

आत्मा की दर्शन-चेतना को आवृत करने वाला दर्शनावरणीय कर्म है।

सुख और दुःख की अनुभूति में हेतुभूत बनने वाला वेदनीय कर्म है।

चेतना को विकृत या मूर्छित करने वाला मोहनीय कर्म है।

किसी एक गति में निश्चित अवधि तक बांध कर रखने वाला आयुष्य कर्म है।

शरीर-संरचना की प्रकृष्टता या निकृष्टता का कारण नाम कर्म है।

जीव को अच्छी या बुरी दृष्टि से देखे जाने में निमित्त बनने वाला गोत्र कर्म है।

आत्म-शक्ति की उपलब्धि में बाधा पहुंचाने वाला अन्तराय कर्म है।

आत्मा की अन्य क्षमताओं पर आवरण डालने वाले या उन्हें अवरुद्ध करने वाले पुद्गल-समूह को अन्य कर्मों के नाम से भी अभिहित किया जा सकता है, पर ऐसा करने से कर्मों की संख्या गणना की सीमा के बाहर हो जाती। इसलिए संक्षेप में उनके आठ प्रकार बताकर अन्य प्रकारों को उन्हीं में अन्तर्गर्भित कर दिया गया है। जब तक ये कर्म आत्मा के साथ एकीभूत रहेंगे, तब तक प्राणी को संसार में परिभ्रमण करना पड़ेगा। कर्मों के वन्धन से छूटते ही आत्मा मुक्त हो जाती है, अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाती है। जैन दर्शन में कर्म-सिद्धान्त की जितनी सूक्ष्म मीमांसा की गई है, अन्य किसी दर्शन में उसे इस प्रकार समझाने का प्रयास आज तक नहीं हुआ है।

उक्त आठ कर्मों में सभी कर्म अशुभ तो हैं ही। पर इनमें चार शुभ भी हैं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय—

ये चार कर्म एकान्त अशुभ हैं। वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र—ये चार कर्म शुभ एवं अशुभ दोनों हैं।

ज्ञानावरणीय आदि एकान्त अशुभ कर्मों को घनघात्य कर्म कहा जाता है। घात्य, घाती या घनघात्य ये पर्यायवाची शब्द हैं। आत्मा के मौलिक गुणों की घात करने वाले कर्म घात्य या घाती कहलाते हैं अथवा सघन प्रयत्न के द्वारा ही इन कर्मों की घात हो सकती है, इसलिए इन्हें घनघात्य कहा जाता है।

शेष चार कर्म आत्मा के मौलिक गुणों की घात नहीं करते। ये साधारण प्रयत्न से क्षीण हो जाते हैं। इसलिए इन्हें अघात्य कर्म कहा जाता है। आत्मगुणों की घात न करने पर भी जीव के भव-भ्रमण में इनका पूरा-पूरा हाथ रहता है। इस दृष्टि से इन्हें भवोपग्राही कर्म भी कहा जाता है।

घात्य कर्मों का क्षय कर देने के बाद भी प्राणी को मुक्ति नहीं होती। क्योंकि वह भवोपग्राही कर्मों के बन्धन को नहीं तोड़ सका है। तीर्थंकर और केवली भी जब तक इनसे मुक्त नहीं होते, उन्हें संसार में रहना पड़ता है।

मोहनीय कर्म ग्यारहवें गुणस्थान तक रहता है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्म का अस्तित्व बारहवें गुणस्थान तक है। शेष चार भवोपग्राही कर्म चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक बने रहते हैं। चौदहवें गुणस्थान को पार करना, चार अघात्य कर्मों को क्षीण करना और मुक्त होना—ये सब काम एक साथ एक समय में घटित हो जाते हैं।

७. कर्म की इकतीस उत्तर प्रकृतियां हैं

ज्ञानावरणीय कर्म की पांच प्रकृतियां हैं—

१. मतिज्ञानावरण
२. श्रुतज्ञानावरण
३. अवधिज्ञानावरण
४. मनः पर्यवज्ञानावरण
५. केवलज्ञानावरण

दर्शनावरणीय कर्म की नौ प्रकृतियां हैं—

१. चक्षुदर्शनावरण
२. अचक्षुदर्शनावरण

३. अवधिदर्शनावरण	७. प्रचला
४. केवलदर्शनावरण	८. प्रचलाप्रचला
५. निद्रा	९. स्त्यानर्द्धि
६. निद्रानिद्रा	

वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियां हैं—

१. सात वेदनीय	२. असात वेदनीय

मोहनीय कर्म की दो प्रकृतियां हैं—

१. दर्शन मोहनीय	२. चारित्र मोहनीय

आयुष्य कर्म की चार प्रकृतियां हैं—

१. नरक आयुष्य	३. मनुष्य आयुष्य
२. तिर्यंच आयुष्य	४. देव आयुष्य

नाम कर्म की दो प्रकृतियां हैं—

१. शुभ नाम	२. अशुभ नाम

गोत्र कर्म की दो प्रकृतियां हैं—

१. उच्च गोत्र	२. नीच गोत्र

अन्तराय कर्म की पांच प्रकृतियां हैं—

१. दान अन्तराय	४. उपभोग अन्तराय
२. लाभ अन्तराय	५. वीर्य अन्तराय
३ भोग अन्तराय	

दूसरे वर्ग के छठे बोल के विश्लेषण में यह बताया जा चुका है कि मूलत: कर्म एक ही है, फिर भी कार्य की अपेक्षा से उसके आठ भेद किए गए हैं। ये आठों भेद कर्म की मूल प्रकृतियां हैं। इन प्रकृतियों के उत्तर भेद अनेक हैं। ज्ञान के जितने भेद हो सकते हैं, उनके साथ आवरण शब्द जोड़कर ज्ञानावरण के उपभेद किए जा सकते हैं। इस क्रम से कर्म की उत्तर प्रकृतियां किसी संख्या में आवद्ध नहीं हो सकतीं। विशद विवेचन किया जाए तो कर्म की सैकड़ों प्रकृतियां अपनी निश्चित पहचान बनाए हुए हैं। प्रस्तुत पाठ में संक्षेप और विस्तार दोनों

ये चार कर्म एकान्त अशुभ हैं। वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र—ये चार कर्म शुभ एवं अशुभ दोनों हैं।

ज्ञानावरणीय आदि एकान्त अशुभ कर्मों को घनघात्य कर्म कहा जाता है। घात्य, घाती या घनघात्य ये पर्यायवाची शब्द हैं। आत्मा के मौलिक गुणों की घात करने वाले कर्म घात्य या घाती कहलाते हैं अथवा सघन प्रयत्न के द्वारा ही इन कर्मों की घात हो सकती है, इसलिए इन्हें घनघात्य कहा जाता है।

शेष चार कर्म आत्मा के मौलिक गुणों की घात नहीं करते। ये साधारण प्रयत्न से क्षीण हो जाते हैं। इसलिए इन्हें अघात्य कर्म कहा जाता है। आत्मगुणों की घात न करने पर भी जीव के भव-भ्रमण में इनका पूरा-पूरा हाथ रहता है। इस दृष्टि से इन्हें भवोपग्राही कर्म भी कहा जाता है।

घात्य कर्मों का क्षय कर देने के बाद भी प्राणी को मुक्ति नहीं होती। क्योंकि वह भवोपग्राही कर्मों के बन्धन को नहीं तोड़ सका है। तीर्थंकर और केवली भी जब तक इनसे मुक्त नहीं होते, उन्हें संसार में रहना पड़ता है।

मोहनीय कर्म ग्यारहवें गुणस्थान तक रहता है। ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्म का अस्तित्व बारहवें गुणस्थान तक है। शेष चार भवोपग्राही कर्म चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक बने रहते हैं। चौदहवें गुणस्थान को पार करना, चार अघात्य कर्मों को क्षीण करना और मुक्त होना—ये सब काम एक साथ एक समय में घटित हो जाते हैं।

७. कर्म की इकतीस उत्तर प्रकृतियां हैं

ज्ञानावरणीय कर्म की पांच प्रकृतियां हैं—

१. मतिज्ञानावरण
२. श्रुतज्ञानावरण
३. अवधिज्ञानावरण
४. मनः पर्यवज्ञानावरण
५. केवलज्ञानावरण

दर्शनावरणीय कर्म की नौ प्रकृतियां हैं—

१. चक्षुदर्शनावरण
२. अचक्षुदर्शनावरण

३. अवधिदर्शनावरण	७. प्रचला
४. केवलदर्शनावरण	८. प्रचलाप्रचला
५. निद्रा	९. स्त्यानर्द्धि
६. निद्रानिद्रा	

वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियां हैं—

१. सात वेदनीय	२. असात वेदनीय

मोहनीय कर्म की दो प्रकृतियां हैं—

१. दर्शन मोहनीय	२. चारित्र मोहनीय

आयुष्य कर्म की चार प्रकृतियां हैं—

१. नरक आयुष्य	३. मनुष्य आयुष्य
२. तिर्यंच आयुष्य	४. देव आयुष्य

नाम कर्म की दो प्रकृतियां हैं—

१. शुभ नाम	२. अशुभ नाम

गोत्र कर्म की दो प्रकृतियां हैं—

१. उच्च गोत्र	२. नीच गोत्र

अन्तराय कर्म की पांच प्रकृतियां हैं—

१. दान अन्तराय	४. उपभोग अन्तराय
२. लाभ अन्तराय	५. वीर्य अन्तराय
३ भोग अन्तराय	

दूसरे वर्ग के छठे बोल के विश्लेषण में यह बताया जा चुका है कि मूलतः कर्म एक ही है, फिर भी कार्य की अपेक्षा से उसके आठ भेद किए गए हैं। ये आठों भेद कर्म की मूल प्रकृतियां हैं। इन प्रकृतियों के उत्तर भेद अनेक हैं। ज्ञान के जितने भेद हो सकते हैं, उनके साथ आवरण शब्द जोड़कर ज्ञानावरण के उपभेद किए जा सकते हैं। इस क्रम से कर्म की उत्तर प्रकृतियां किसी संख्या में आबद्ध नहीं हो सकतीं। विशद विवेचन किया जाए तो कर्म की सैकड़ों प्रकृतियां अपनी निश्चित पहचान बनाए हुए हैं। प्रस्तुत पाठ में संक्षेप और विस्तार दोनों

विवेचनों से हटकर मध्य का मार्ग स्वीकार किया गया है। इसमें कर्म की इकतीस प्रकृतियों का उल्लेख है।

ज्ञानावरणीय कर्म की पांच उत्तर प्रकृतियां हैं—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यवज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण। ज्ञान के मुख्य भेद ये पांच हैं, इसलिए ज्ञानावरणीय कर्म की मुख्य प्रकृतियां पांच हो गईं।

दर्शनावरणीय कर्म की नौ उत्तर प्रकृतियां हैं—चक्षुदर्शनावरण अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानर्द्धि।

दर्शनावरण का अर्थ है—साक्षात्कार में बाधा। जिस प्रकार चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण आदि के उदय से इन्द्रियों द्वारा होने वाले विषय के साक्षात्कार में बाधा उपस्थित होती है, उसी प्रकार निद्रा आदि पांच प्रकृतियों के उदय से भी साक्षात्कार में बाधा पहुंचती है। निद्रा दर्शनावरण की वह प्रकृति है, जो सुख से आती है और सुख से चली जाती है। निद्रानिद्रा प्रकृति का उदय होने से नींद आती तो सुख से है, पर टूटती बहुत मुश्किल से है। बैठे-बैठे नींद आना प्रचला है और खड़े या चलते समय आने वाली नींद प्रचला-प्रचला है। स्त्यानर्द्धि निद्रा कुछ विचित्र प्रकार की है। इस नींद में व्यक्ति कुछ भी कर लेता है, पर उसे उसका भान नहीं होता। युद्ध जैसी बीभत्स प्रवृत्ति करने के बाद भी वह यन्त्रवत् अपने स्थान पर लौटकर सो जाता है। उस समय उसकी चेतना प्रगाढ़ मूर्च्छा से घिर जाती है। मूर्च्छा टूटती है तब उसे अनुभव होता है मानो वह कोई स्वप्न देख रहा हो। किन्तु वह कल्पना या स्वप्न नहीं होता। निद्रा की प्रगाढ़ अवस्था में घटित होने के कारण उसमें स्वप्न का प्रतिभास होता है।

वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियां हैं—सात वेदनीय और असातवेदनीय। सांसारिक प्राणी सुख या दुःख इन दोनों में से एक का वेदन अवश्य करता है। सातवेदनीय के उदय से शारीरिक और मानसिक सुख की अनुभूति होती है। असात वेदनीय के उदय से मानसिक संक्लेश और शारीरिक कष्ट का अनुभव होता है।

मोहनीय कर्म की दो प्रकृतियां हैं—दर्शन-मोहनीय और चारित्र-

मोहनीय। मोहनीय कर्म की अट्ठाईस प्रकृतियां भी प्रसिद्ध हैं। उनमें दर्शन-मोहनीय की तीन प्रकृतियां हैं और चारित्र-मोहनीय की पच्चीस। पर यहां उन्हें विवक्षित नहीं किया गया है। दर्शन-मोहनीय सम्यक्त्व का बाधक है और चारित्र मोहनीय साधुत्व का।

आयुष्य कर्म की चार प्रकृतियां हैं—नरक आयुष्य, तिर्यञ्च आयुष्य, मनुष्य आयुष्य और देव आयुष्य। पूर्व निबद्ध आयुष्य कर्म पूरा भोग लेने के बाद ही जीव एक भव से दूसरे भव में जा सकता है। आयुष्य कर्म का सम्पूर्ण क्षय मोक्ष है।

नाम कर्म की एक सौ बयालीस प्रकृतियों का उल्लेख शास्त्रों और ग्रन्थों में मिलता है। यहां उसकी दो प्रकृतियां बताई गई हैं—शुभ नाम और अशुभ नाम। शुभ नाम कर्म के उदय से जीव को गति, जाति, शरीर, संस्थान आदि अच्छे प्राप्त होते हैं और अशुभ नाम कर्म के उदय से ये सब अशुभ हो जाते हैं।

गोत्र कर्म की दो प्रकृतियां हैं—उच्च गोत्र और नीच गोत्र। ये दोनों गोत्र एक ही जीव में पाए जा सकते हैं और स्वतन्त्र रूप से भी पाए जा सकते हैं। एक व्यक्ति ज्ञान-सम्पन्न है पर रूप-सम्पन्न नहीं है तो वह दोनों प्रकृतियों को एक साथ भोगता है।

अन्तराय कर्म की पांच प्रकृतियां हैं—दान अन्तराय, लाभ अन्तराय, भोग अन्तराय, उपभोग अन्तराय और वीर्य अन्तराय। अन्तराय का अर्थ है—बाधा। वीर्य आत्मा का गुण है। उसकी उपलब्धि और उपयोग अन्तराय कर्म के क्षय या क्षयोपशम से ही संभव हैं। दान, लाभ, भोग और उपभोग—ये कोई मौलिक गुण नहीं हैं। अमूर्त्त वीर्य को मूर्त्त प्रतीकों से समझाने की दृष्टि से ये भेद किए गए हैं।

दानान्तराय कर्म के क्षय या क्षयोपशम से जो औदार्य गुण प्रकट होता है, वह एक प्रकार की क्षमता ही है। वस्तु प्राप्त करने की क्षमता लाभान्तराय कर्म के क्षय या क्षयोपशम से मिलती है। पदार्थ प्राप्त होने पर भी बहुत से लोग उनके उपभोग से वंचित रह जाते हैं। पदार्थ के भोगोपभोग की क्षमता भी इसी कर्म के क्षय-क्षयोपशम से उपलब्ध होती है। इस कर्म की प्रकृतियों में वीर्यान्तराय प्रकृति प्रमुख है। अन्य प्रकृतियां गौण हैं।

८. कर्म के आठ दृष्टान्त हैं—

१. ज्ञानावरणीय कर्म—आंख की पट्टी के समान
२. दर्शनावरणीय कर्म—प्रहरी के समान
३. वेदनीय कर्म—मधुलिपटी तलवार की धार के समान
४. मोहनीय कर्म—मद्यपान के समान
५. आयुष्य कर्म—बेड़ी के समान
६. नाम कर्म—चित्रकार के समान
७. गोत्र कर्म—कुंभकार के समान
८. अन्तराय कर्म—कोषाध्यक्ष के समान

आत्मा की अच्छी या बुरी प्रवृत्ति के द्वारा कर्मवर्गणा आकृष्ट होती है और वह आत्मा के साथ संपृक्त होकर कर्म कहलाती है। आत्मा से संश्लिष्ट होते ही कर्म अपना प्रभाव नहीं दिखाते। एक निश्चित समय तक वे आत्मा से चिपके रहते हैं। इस स्थिति को अबाधा, सत्ता या अनुदयावस्था कहा जाता है। इस अवस्था को छोड़कर कर्म जिस क्षण उदय में आते हैं, उसी क्षण से अपना काम करना शुरू कर देते हैं। कर्म का संवेदन करने वाला या उसका फल भोगने वाला कुछ समझे या नहीं, फल भोग की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। साधारण व्यक्ति इस प्रक्रिया को समझ सके, इस दृष्टि से शास्त्रों में कुछ दृष्टान्त बताये गए हैं। यद्यपि दृष्टान्त एकदेशीय होते हैं। वे अपने प्रतिपाद्य को समग्रता से अभिव्यक्ति नहीं दे सकते। पर आंशिक रूप से जितना स्पष्ट अवबोध उदाहरणों से होता है, परिभाषाओं से नहीं हो सकता। इसलिए गूढ़ और सूक्ष्म रहस्यों को समझाने के लिए दृष्टान्तों को काम में लिया जाता है।

इस बोल में प्रत्येक कर्म की फल देने की प्रक्रिया उदाहरण के माध्यम से निरूपित है।

ज्ञानावरणीय कर्म आंख की पट्टी के समान है। आंख पर पट्टी बांध लेने से दृश्य पदार्थ और आंख के मध्य आवरण आ जाता है। उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से प्राणी की ज्ञानचेतना आवृत हो जाती है। यह कर्म जानने में बाधा पहुंचाता है।

दर्शनावरणीय कर्म प्रहरी के समान है। जिस प्रकार प्रहरी की अनुमति बिना किसी बड़े आदमी से मिलना सम्भव नहीं होता। उसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म के उदय से देखने अथवा पदार्थ का सामान्य ज्ञान करने में अवरोध उपस्थित हो जाता है।

वेदनीय कर्म मधुलिपटी तलवार की धार के समान है। मध का आस्वादन सातवेदनीय कर्म है और जीभ का कटना असातवेदनीय का संवेदन है।

मोहनीय कर्म मद्यपान के समान है। जैसे मदिरा पीने वाला व्यक्ति अपनी सुध-बुध खो देता है, वैसे ही मोहनीय कर्म के उदय से चेतना विकृत होती है, व्यक्ति मूढ़ बनता है और अपने हिताहित का विवेक खो देता है।

आयुष्य कर्म बेड़ी के समान है। बेड़ी में बंधा हुआ व्यक्ति उसे तोड़े बिना मुक्त नहीं हो सकता। उसी प्रकार आयुष्य कर्म का भोग किए बिना प्राणी एक भव से दूसरे भव में नहीं जा सकता।

नामकर्म चित्रकार के समान है। चित्रकार अपनी कल्पना की उपज से नये-नये चित्रों का निर्माण करता है। वैसे ही नाम कर्म शरीर, संस्थान आदि की संरचना को अनेक रूप देता है।

गोत्र कर्म कुम्भकार के समान है। जिस प्रकार कुम्भकार छोटे-बड़े मनचाहे घड़े बनाता है, वैसे ही गोत्र कर्म के उदय से प्राणी ऊंच-नीच आदि बनते हैं।

अन्तराय कर्म कोषाध्यक्ष के समान है। अधिकारी का आदेश प्राप्त होने पर भी कोषाध्यक्ष के दिए बिना वांछित वस्तु नहीं मिलती। इसी प्रकार सब सुविधाएं सुलभ होने पर भी अन्तराय कर्म दूर हुए बिना उनका भोग नहीं हो सकता।

इन आठों कर्मों के फलदान सम्बन्धी दृष्टान्तों का अवबोध व्यक्ति को कर्म-बन्धनमूलक प्रवृत्तियों से दूर हटने में सहायक बन सकता है।

९. कर्म की दस अवस्थाएं हैं—

१. बंध **३. उदय**

२. सत्ता **४. उदीरणा**

५. उद्वर्तन ८. उपशम
६. अपवर्तन ९. निधत्ति
७. संक्रमण १०. निकाचना

हर पदार्थ की भिन्न-भिन्न अवस्थाएं होती हैं, पर्याय होती हैं। पदार्थ है तो पर्याय का होना जरूरी है। क्योंकि कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं होता, जिसमें रूपान्तरण न हो, बदलाव न हो, पर्याय का परिवर्तन न हो। पर्याय का अर्थ है पूर्व अवस्था का परित्याग और नयी अवस्था का स्वीकार। हर पदार्थ की पर्याय अनन्त हैं, इस दृष्टि से कर्म की पर्याय भी अनन्त हैं। किन्तु प्रस्तुत संदर्भ में जो वर्गीकरण किया गया है, वह स्थूल अवस्थाओं की दृष्टि से है।

संसारी जीव कर्म सहित होते हैं। कर्म के संयोग से वे विविध अवस्थाओं को प्राप्त करते हैं और जीव के पुरुषार्थ से कर्म की विविध अवस्थाएं हो जाती हैं। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है—जीव का योग पाकर कर्म, कर्म है और कर्म के योग से जीव, संसारी जीव है।

कर्मों की दस अवस्थाओं में सबसे पहली अवस्था है 'बंध'। यह आत्मा और कर्मों के एकीभूत होने की अवस्था है।

बंध के बाद जब तक कर्म फल नहीं देते हैं, वह आत्मा से संलग्न रहता है। उस समय उसका अस्तित्व है, पर वह सक्रिय नहीं है। इस दृष्टि से इस अवस्था को 'सत्ता' के रूप में माना गया है।

आत्मा के साथ एकीभूत कर्म सक्रिय हो जाता है, फलदान में प्रवृत्त हो जाता है, उस स्थिति को उदय कहते हैं।

निश्चित उदय काल से पहले विशेष पुरुषार्थ का प्रयोग कर कर्मों को उदय में ले आना उदीरणा है।

जिस कर्म की जितनी स्थिति बंधी हुई है और जैसा रस है उसे किसी निमित्त से बढ़ा देना उद्वर्तन है।

कर्मों की बंधी हुई स्थिति और उसके रस को उससे कम कर देना अपवर्तन है।

संक्रमण का अर्थ है एक का दूसरे में परिवर्तन। एक ही कर्म की भिन्न-भिन्न प्रकृतियां जब परस्पर संक्रान्त हो जाती हैं, तब उस स्थिति

को संक्रमण कहा जाता है।

आठ कर्मों में सर्वाधिक सक्षम मोहनीय कर्म को दबाना—उसे अकिंचित्कर बना देना उपशम है।

आत्मा और कर्म के संबंध को गाढ़ बनाने का नाम निधत्ति है।

आत्मा और कर्म के संबंध को इतना प्रगाढ़ बना देना, जहां स्थिति आदि में न्यूनता-अधिकता हो ही न सके, वह निकाचना है।

इस प्रकार कर्म की और भी अवस्थाएं हो सकती हैं, पर यहां दस अवस्थाओं की ही चर्चा है।

१० कर्म के चार कार्य हैं—

१. आवरण	**३. अवरोध**
२. विकार	**४. शुभाशुभ का संयोग**

अर्थक्रियाकारित्व पदार्थ का लक्षण है। कोई भी पदार्थ हो, वह अपना काम करता रहता है। कर्म भी एक अस्तित्ववान् पदार्थ है। वह भी प्रतिक्षण अपना काम करता रहता है। इस वर्ग के छठे बोल में कर्म की मूलभूत आठ प्रकृतियों का विवेचन किया गया है। वे प्रकृतियां आत्मा से संवद्ध होकर कर्म कहलाती हैं। जब तक उनका आत्मा के साथ सम्वन्ध नहीं होता, वे कर्मवर्गणा के रूप में रहती हैं, पर कर्म के रूप में परिणत नहीं होतीं। प्रश्न यह है कि कर्म का काम क्या है? वे आत्मा पर क्या प्रभाव डालते हैं? इस प्रश्न का समाधान इस बोल में है। कर्मों के चार कार्य हैं—

आवरण—आत्मा के मूल गुणों को आच्छादित करना।

विकार—आत्मा के मूल गुणों को विकृत करना।

अवरोध—आत्मा के विकास में बाधा डालना।

शुभाशुभ का संयोग—आत्मा के शुभ और अशुभ संयोग में निमित्त वनना।

आवरण का काम करने वाले कर्म ज्ञानावरण और दर्शनावरण कहलाते हैं। ये आत्मा के मूल गुण—ज्ञान और दर्शन को आवृत करते हैं। यद्यपि ज्ञान और दर्शन आत्मा के सहज धर्म हैं, फिर भी व्यक्ति-व्यक्ति की ज्ञान-चेतना और दर्शन-चेतना के विकास में तारतम्य रहता है, उसका कारण कर्मों का उदय है। कर्मों का जितना-

जितना क्षयोपशम होता है, हल्कापन होता है, विकास की मात्रा उतनी ही बढ़ जाती है। आकाश में सूर्य होता है। मेघघटा उसे आच्छादित कर देती है। इससे सूर्य का अस्तित्व समाप्त नहीं होता, पर वह पर्याप्त प्रकाश करने में अक्षम हो जाता है। जैसे-जैसे बादल छिन्न-भिन्न होते हैं, प्रकाश अधिक हो जाता है। आवारक कर्म ज्ञान-सूर्य को कमोबेस रूप में आच्छादित कर अपना प्रभाव दिखाते हैं।

विकारक कर्म आत्म-गुणों में विकार उत्पन्न करता है। इससे आत्मा अपने मूल स्वरूप को विकृत कर विवेक-चेतना खो बैठती है। यह काम मोह कर्म का है। इससे मूढ़ता की स्थिति उत्पन्न होती है।

अवरोधक कर्म आत्मशक्ति की उपलब्धि में बाधक बनता है। यह काम अन्तराय कर्म का है। इस कर्म के उदय से आत्मा में निहित शक्तियों का भी प्रस्फोट या उपयोग नहीं हो सकता।

शुभ-अशुभ संयोग में निमित्त बनते हैं चार अघात्य कर्म। ये कर्म आत्म गुणों को नुकसान नहीं पहुंचा सकते। पर देह-संरचना, सम्मान, प्रतिष्ठा आदि के भाव और अभाव में इनका पूरा हाथ रहता है। वेदनीय, नाम, गोत्र और आयुष्य—ये चार कर्म आत्मा के शुभ और अशुभ संयोग में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं।

११. कर्म-बंध के चार विकल्प—

१. **एक कर्म (सात वेदनीय) का बन्ध—ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में।**
२. **छह कर्मों (मोहनीय और आयुष्य को छोड़कर) का बन्ध—दसवें गुणस्थान में।**
३. **केवल सात कर्मों (आयुष्य को छोड़कर) का बन्ध—तीसरे, आठवें और नौवें गुणस्थान में।**
४. **आठ-सात कर्मों का बन्ध—पहले, दूसरे, चौथे, पांचवें, छठे और सातवें गुणस्थान में।**

पिछले बोलों में कर्म, कर्म-बंध के हेतु और कर्मों की प्रकृतियों का

विवेचन किया गया है। अब प्रश्न यह होता है कि सब कर्मों का बंध एक साथ ही होता है या अलग-अलग भी होता है ? इस प्रश्न का उत्तर ग्यारहवें बोल में दिया गया है। इसके अनुसार कम-से-कम एक कर्म का और अधिक-से-अधिक आठों कर्मों का बंध एक साथ हो सकता है। कर्म-बंध के इस वर्गीकरण के लिए आधार बनाया गया है गुणस्थानों को। किस गुणस्थान में कितने कर्मों का बंध होता है ? इस विवक्षा से कर्म-बंधन के चार विकल्प बनते हैं।

१. ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में एक ही कर्म का वंध होता है। एक वेदनीय कर्म, वह भी केवल सात वेदनीय, वह भी दो समय की स्थिति वाला। एक दृष्टि से देखा जाये तो वह नाम मात्र का बंधन है। प्रथम समय में उसका बंधन होता है, दूसरे समय वह भोग में आता है और क्षीण हो जाता है। कर्म को टिकाकर रखने वाला तत्त्व है कषाय। इन गुणस्थानों में होने वाला बन्धन कषाय से नहीं, योग से होता है, इसलिए उसमें स्थायित्व नहीं होता।

२. दसवें गुणस्थान का नाम है सूक्ष्मसम्पराय। वहां आयुष्य और मोह के अतिरिक्त छह कर्मों का बंधन प्रतिसमय होता रहता है। मोह कर्म का बंध कषाय की तीव्रता से होता है। दसवें गुणस्थान तक कषाय रहता है, पर वह वहां अत्यन्त सूक्ष्म या मंद हो जाता है। मोह कर्म की वर्गणा को आकृष्ट करने में जितने प्रबल मोह का योग होना चाहिए, वह वहां नहीं रहता। इसलिए दसवें गुणस्थान में छह ही कर्मों का बंधन होता है।

३. तीसरे, आठवें और नौवें गुणस्थान में सात कर्मों का बंधन होता है। तीसरे गुणस्थान में अध्यवसायों की अस्थिरता होने के कारण आयुष्य कर्म का बंधन नहीं होता। अप्रमत्त अवस्था से आगे आयुष्य का बंध संभव नहीं है। इस दृष्टि से इन तीन गुणस्थानों में सात कर्मों का बंधन होता है।

४. पहले, दूसरे, चौथे, पांचवें, छठे और सातवें गुणस्थान में आठ या सात कर्मों का बंधन होता है। सात कर्मों का बंध प्रतिक्षण होता है। आयुष्य कर्म का बंध जीवन में एक बार ही होता है। इस दृष्टि से आयुष्य-बंधन के समय आठ कर्मों का बंधन होता है और अन्य समय में सात कर्मों का बंधन होता है।

चौदहवें गुणस्थान में बन्धन के निमित्त कषाय और योग दोनों का अभाव है, इसलिए वहां किसी प्रकार का बन्धन नहीं होता। नये सिरे से बन्धन न होने के कारण उस गुणस्थान का जीव भवोपग्राही अघात्य कर्मों के टूटते ही मुक्त हो जाता है।

१२. कर्म बंध के आठ हेतु हैं—

१. ज्ञानावरणीय कर्म—ज्ञान के प्रति असद् व्यवहार

२. दर्शनावरणीय कर्म—दर्शन के प्रति असद् व्यवहार

३. वेदनीय कर्म—दुःख देने और दुःख न देने की प्रवृत्ति

४. मोहनीय कर्म—तीव्र कषाय का प्रयोग

५. आयुष्य कर्म—

नरक आयुष्य—क्रूर व्यवहार

तिर्यंच आयुष्य—वंचनापूर्ण व्यवहार

मनुष्य आयुष्य—ऋजु व्यवहार

देव आयुष्य—संयत व्यवहार

६. नाम कर्म—कथनी-करनी की समानता और असमानता

७. गोत्र कर्म—अहंकार और अहंकार का विसर्जन

८. अन्तराय कर्म—किसी के कार्य में बाधा डालना

कर्म के सम्बन्ध में बहुत लम्बी चर्चा हो जाने पर भी एक प्रश्न ज्यों-का-त्यों खड़ा है। वह है बन्धन की प्रक्रिया से सम्बन्धित। आत्मा के साथ कर्म का बन्धन क्यों होता है? बन्धन सहेतुक है या निर्हेतुक? वह आमन्त्रित होता है या अनायास हो जाता है? आत्मा चेतन है और कर्म जड़ है। जड़ और चेतन का योग संभव है क्या? इन प्रश्नों का समाधान बारहवें बोल में दिया गया है।

'न हि अकारणं कार्यं भवति' कारण के बिना कार्य नहीं हो सकता, यह शाश्वत नियम है। इसी के आधार पर कारण-कार्यवाद की परम्परा चली। कर्म-बन्धन भी अकारण नहीं है। यदि इसे अकारण मान लिया जाए तो सिद्धों के भी कर्म-बन्धन का प्रसंग उपस्थित हो जाता है। इसलिए हमें बन्धन के हेतुओं पर विचार करना

होगा।

कर्म-बन्धन का मूल कारण है आश्रव। आश्रव पांच हैं—मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग। प्रथम चार आश्रव अव्यक्त हैं और योग आश्रव व्यक्त है। कर्म पुद्गलों को ग्रहण करने का सर्वाधिकार इसी योग आश्रव को प्राप्त है। योग तीन प्रकार का होता है—मन योग, वचन योग और काय योग। इन तीनों में काय योग स्थूल है। इसलिए मन और वचन योग की प्रवृत्ति का हेतु काय योग ही वनता है।

योग की प्रवृत्ति निरन्तर होती रहती है। प्रवृत्ति के साथ बन्धन का अविनाभावी सम्बन्ध है। स्थूल और सूक्ष्म हर प्रवृत्ति समग्रता से कर्म पुद्गलों को आकर्षित करती है। इस दृष्टि से बन्धन के कारणों को विश्लेषित करना कठिन है। फिर भी स्थूल रूप से कुछ कारणों का संकेत किया जा सकता है—

ज्ञान या ज्ञानी के प्रति असद् व्यवहार ज्ञानावरणीय कर्म-बन्धन का हेतु है।

दर्शन या दर्शनी के प्रति असद् व्यवहार दर्शनावरणीय कर्म-बन्धन का हेतु है।

दुःख देने और दुःख न देने की प्रवृत्ति वेदनीय कर्म-बन्धन का हेतु है।

तीव्र कषाय का प्रयोग करने से मोह कर्म का बन्धन होता है।

क्रूर व्यवहार, वंचनापूर्ण व्यवहार, ऋजु व्यवहार और संयत व्यवहार से क्रमशः नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव आयुष्य का बन्धन होता है।

कथनी और करनी की समानता से शुभ नाम तथा असमानता से अशुभ नाम कर्म का वन्धन होता है।

अहंकार करने से नीच गोत्र और अहंकार का विसर्जन करने से उच्च गोत्र कर्म का वन्धन होता है।

किसी के कार्य में बाधा डालने से अन्तराय कर्म का बन्धन होता है।

कर्म आठ हैं। आठों कर्मों के बन्धन में स्थूल रूप से निमित्त बनने वाले आठ कारणों को यहां उल्लिखित कर दिया गया है। यह मात्र

संकेत है। ऐसे और भी अनेक कारण हैं, जो बन्धन में निमित्त हैं। उन सबको जानकर उनसे उपरत रहने का प्रयास करना ही इस ज्ञान की सार्थकता है।

१३. आठ कर्मों में बन्धकारक कर्म दो हैं—
१. मोहनीय कर्म से अशुभ कर्म का बन्ध।
२. नाम कर्म से शुभ कर्म का बन्ध।

प्रश्न होता है कि आत्मा के कर्म का बन्धन क्यों होता है? बन्धन करने वाला कौन है? जैन दर्शन के अनुसार आत्मा स्वयं कर्त्ता है। आत्मा स्वयं बंधती है और स्वयं के पुरुषार्थ से ही मुक्त होती है। यहां प्रति-प्रश्न खड़ा होता है कि बंधने और मुक्त होने में आत्मा स्वतन्त्र है तो वह बंधेगी क्यों? बंधने में उसका कोई लाभ तो है नहीं। बिना लाभानुभूति बंधन की ओर अग्रसर होने का औचित्य क्या है?

यह प्रश्न औचित्य का नहीं, नियम का है। आत्मा पहले से ही कर्म पुद्गलों से आबद्ध है। पूर्व बन्धन की प्रेरणा से आत्मा में स्पन्दन होता है। स्पन्दन से सत्-असत् प्रवृत्ति होती है और उससे नया वन्धन होता है। यदि यह नियम नहीं होता तो मुक्त आत्मा के भी बन्धन होता। आत्मा ने कर्म पुद्गलों से सम्बन्ध कब किया? इस प्रश्न का उत्तर काल की सीमा में मिलना कठिन है। बन्धन की यह प्रक्रिया अनादि काल से चली आ रही है और तब तक चलती रहेगी जब तक आत्मा विकास की चौदहवीं अर्थात् अंतिम भूमिका तक नहीं पहुंच जाएगी।

कर्म वर्गणा वर्गीकृत होकर आठ भागों में बंट जाती है। वे आठों कर्म आत्म प्रदेशों के साथ एकीभूत हैं, पर बन्धन के कारण वे सब नहीं हैं। मुख्य रूप में बन्धन के कारण दो कर्म हैं—मोहनीय और नाम। क्योंकि वन्धन में दो तत्त्व काम करते हैं—आसक्ति और स्पन्दन। दूसरे शब्दों में कषाय और योग। ये दोनों तत्त्व न हों तो वन्धन को कोई अवकाश ही नहीं मिलता। कषाय का सम्वन्ध मोह कर्म से है और योग का सम्वन्ध नाम कर्म से है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि कर्म वन्धन में दो ही कर्म सक्रिय हैं—मोह और नाम। मोह कर्म से पाप का वन्धन होता है और नाम कर्म से पुण्य का। मोह से पाप या अशुभ का वन्धन होता है, इसका अर्थ यह नहीं है कि वहां

नाम कर्म निष्क्रिय हो जाता है। पुण्य या शुभ कर्म के बन्धन में नाम कर्म को निमित्त माना गया है, पर वहां भी मोह कर्म की क्रिया बन्द नहीं होती।

कर्मपुद्गलों का आकर्षण योग आश्रव के द्वारा होता है, फिर चाहे बन्धन पुण्य का हो या पाप का। योग आश्रव का सम्बन्ध नाम कर्म से है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि आठ कर्मों में बन्धन-कारक कर्म केवल नामकर्म है। नाम कर्म से होने वाली जिस प्रवृत्ति के साथ मोह कर्म का योग होता है, वह अशुभ हो जाती है। उक्त अपेक्षा के आधार पर यह कहा जाता है कि मोह कर्म से पाप लगता है।

१४. क्रिया के पांच प्रकार हैं—

१. कायिकी
२. आधिकरणिकी
३. प्रादोषिकी
४. पारितापनिकी
५. प्राणातिपातक्रिया

अथवा

१. आरम्भिकी
२. पारिग्रहिकी
३. मायाप्रत्यया
४. अप्रत्याख्यान क्रिया
५. मिथ्यादर्शनप्रत्यया

क्रिया का अर्थ है—कर्म बन्धन की प्रवृत्ति। नौ तत्त्वों में कर्म-बन्धन के हेतुभूत तत्त्व को आश्रव माना गया है। इस अपेक्षा से आश्रव और क्रिया में कोई अन्तर नहीं है। कुछ ग्रन्थों में आश्रव के बयालीस भेद बताए गए हैं। उनमें पचीस प्रकार की क्रियाओं का समावेश किया गया है। उन पचीस क्रियाओं में से दस प्रकार की क्रियाओं का उल्लेख इस बोल में किया गया है। उन दस क्रियाओं को पांच-पांच क्रियाओं में वर्गीकृत कर यहां निरूपित किया गया है। प्रथम वर्ग की पांच क्रियाएं—

कायिकी—हिंसा आदि में प्रवृत्त काया से होने वाली क्रिया।

आधिकरणिकी—शरीर या किसी उपकरण का शस्त्र रूप में प्रयोग करने से होने वाली क्रिया।

प्रादोषिकी—कषाय से होने वाली क्रिया।

पारितापनिकी—किसी प्राणी को परिताप—कष्ट पहुंचाने से होने वाली क्रिया।

प्राणातिपात क्रिया—प्राणों का अतिपात—वियोजन करने से होने वाली क्रिया।

प्रकारान्तर से क्रियाओं का एक वर्ग यह बतलाया गया है—

आरंभिकी—हिंसात्मक प्रवृत्ति से होने वाली क्रिया।

पारिग्रहिकी—परिग्रह से होने वाली क्रिया।

मायाप्रत्यया—कषाय से होने वाली क्रिया।

अप्रत्याख्यान क्रिया—अत्याग-भाव से होने वाली क्रिया।

मिथ्यादर्शन-प्रत्यया—मिथ्यात्व से होने वाली क्रिया।

उक्त दोनों ही प्रकार की क्रियाओं से कर्म का बन्धन होता है। इसलिए ये त्याज्य हैं। जीव कोई भी क्रिया करता है तो कम-से-कम तीन क्रियाएं अवश्य होती हैं। कदाचित् चार और पांच क्रियाएं भी एक साथ हो सकती हैं। इन सब क्रियाओं को छोड़कर अक्रिय बनने वाला प्राणी ही बन्धन से मुक्ति की ओर प्रयाण कर सकता है।

१५. संज्ञा के दस प्रकार हैं—

१. आहार	**६. मान**
२. भय	**७. माया**
३. मैथुन	**८. लोभ**
४. परिग्रह	**९. लोक (विशिष्ट या अर्जित वृत्ति)**
५. क्रोध	**१०. ओघ (सामान्य या नैसर्गिक वृत्ति)**

जीव की एक विशेष प्रकार की वृत्ति का नाम संज्ञा है। यह संसार के बहुसंख्यक प्राणियों में पायी जाती है। किसी प्राणी में ये संज्ञाएं बहुत गहरी होती हैं तो किसी में बहुत साधारण। छोटे-बड़े प्रायः सभी प्राणियों में पायी जाने वाली यह संज्ञा आखिर है क्या? इस प्रश्न के परिप्रेक्ष्य में संज्ञा की अनेक परिभाषाएं उभर कर सामने आ जाती

हैं। उनमें से कुछ परिभाषाएं ये हैं—

- जिससे जाना जाता है, संवेदन किया जाता है, वह संज्ञा है।
- मानसिक ज्ञान अथवा समनस्कता का नाम संज्ञा है।
- भौतिक वस्तु की प्राप्ति तथा प्राप्त वस्तु के संरक्षण की व्यक्त अथवा अव्यक्त अभिलाषा का नाम संज्ञा है।
- वेदनीय अथवा मोहनीय कर्म के उदय से प्राणी में आहार आदि की प्राप्ति के लिए जो स्पष्ट और अस्पष्ट व्यग्रता अथवा सक्रियता रहती है, वह संज्ञा है।
- मनोविज्ञान की भाषा में प्राणी जगत् की जो मूल वृत्तियां हैं, उन्हीं को जैन सिद्धान्त संज्ञा के रूप में प्रतिपादित करता है।

ज्ञान, संवेदना, अभिलाषा, चित्त की व्यग्रता या मूल वृत्ति, किसी भी शब्द का प्रयोग हो, मूल बात यह है कि प्राणी एक ऐसी स्थिति से गुजरता है, जो उसका स्वभाव न होने पर भी स्वभाव जैसी लगने लगती है। जैसे हर प्राणी में काम, क्रोध आदि वृत्तियां होती हैं। उनके बारे में यह कहा जा सकता है कि ये तो प्राणी का स्वभाव है। मनुष्य, पशु, वनस्पति आदि कुछ प्राणियों में संज्ञा का होना स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है और कुछ प्राणियों के व्यवहार में उसका थोड़ा भी आभास नहीं मिलता।

१. **आहार संज्ञा**—भोजन के लिए गहरी अभीप्सा और आसक्ति का मनोभाव।
२. **भय संज्ञा**—किसी कल्पित या वास्तविक भयोत्पादक स्थिति में होने वाली घबराहट।
३. **मैथुन संज्ञा**—वासना की वृत्ति, आत्मा को विस्मृत कर पर के साथ रमण करने का मनोभाव।
४. **परिग्रह संज्ञा**—पदार्थ के ग्रहण और संरक्षण की मनोवृत्ति और पदार्थ के प्रति होने वाला ममत्व।
५. **क्रोध संज्ञा**—राग-द्वेष-मूलक उत्तेजना रूप मनोभाव।
६. **मान संज्ञा**—अहंकार को उत्पन्न करने और बनाए रखने वाली मनोवृत्ति।

७. **माया संज्ञा**—छलना, वंचना आदि की मनोवृत्ति।

८. **लोभ संज्ञा**—लालसा बढ़ाने वाली मनोवृत्ति।

९. **लोक संज्ञा**—विशिष्ट या अर्जित मनोवृत्ति।

१०. **ओघ संज्ञा**—सामान्य या नैसर्गिक मनोवृत्ति।

उपर्युक्त दस संज्ञाओं में आठ संज्ञाएं ऐसी हैं, जो अपने नाम से ही अपने स्वरूप का बोध करा देती हैं। शेष दो—लोक संज्ञा और ओघ संज्ञा की परिभाषा उनके नाम से स्पष्ट नहीं हो पाती।

लोक संज्ञा वैयक्तिक चेतना का प्रतीक है। जो आचरण सामुदायिक चेतना के कारण नहीं होते, किन्तु व्यक्ति की अपनी विशिष्ट रुचि या संस्कार के कारण होते हैं। आनुवंशिकता—माता, पिता के गुण-दोषों का संक्रमण, पूर्वजों की व्यावसायिक परम्परा का अनुगमन आदि कई आचरण ऐसे हैं, जो लोक संज्ञा के कारण होते हैं।

ओघ संज्ञा सामुदायिकता की संज्ञा है। यह प्राणी की सामान्य वृत्ति है। जैसे—लता सहारा मिलने से ऊपर चढ़ जाती है। भूकम्प या तूफान आने से पहले ही पशु-पक्षी उसका आभास पाकर सुरक्षित स्थान में पहुंच जाते हैं। यह ऐन्द्रियिक या मानसिक ज्ञान नहीं, किन्तु चेतना के अनावरण की स्वतंत्र क्रिया है। यह करने से नहीं, सहज होती है, इसलिए इसे ओघ संज्ञा कहा गया है। संज्ञा के इन दस प्रकारों में प्रथम आठ प्रकारों को संवेगात्मक और शेष दो प्रकारों को ज्ञानात्मक माना गया है।

१६. आहार के तीन प्रकार हैं—

१. ओज २. रोम ३. कवल

संसार में रहने वाले किसी भी जीव के जीवन का आधार आहार होता है। जब तक आहार का आधार बना रहता है, जीव जीवित रहता है। उस आधार के छूटते ही मृत्यु हो जाती है। सामान्यतः कवल आहार को ही आहार मान लिया जाता है, पर यह बहुत स्थूल बात है। हमारा जीवन केवल इसी स्थूल आधार पर टिका नहीं रह सकता। इस आहार के न लेने पर भी प्राणी महीनों तक जीवित रह सकता है। क्योंकि दूसरे स्रोतों से आहार की पूर्ति होती रहती है। वह आहार है ओज और रोम।

ओज आहार का ग्रहण जीव की उत्पत्ति के समय ही होता है। इससे आहार के ग्रहण, परिणमन और विसर्जन की पौद्गलिक क्षमता प्राप्त हो जाती है। इस क्षमता के द्वारा जीव एक साथ आवश्यक पुद्गलों को खींच लेता है। प्रथम क्षण में वह जितने पुद्गल खींचता है, उन सबको आत्मसात् कर लेता है। दूसरे क्षण वह फिर पुद्गलों का ग्रहण करता है, पर उसके साथ कुछ पुद्गलों को छोड़ भी देता है। ग्रहण और विसर्जन का यह क्रम जीवन भर चलता रहता है। इसे एक उदाहरण के द्वारा समझा जा सकता है।

उबलते हुए घी या तेल में कोई पूआ छोड़ जाता है तो वह एक साथ उस घी या तेल को अपने भीतर समेट लेता है। दूसरे क्षण वह घी या तेल को सोखता है तो छोड़ता भी है। ग्रहण और विसर्जन का यह क्रम चलता रहता है।

प्रथम समय में गृहीत ओज आहार जब तक नहीं चुकता है, तब तक जीवन बना रहता है। इस आहार के चुक जाने पर रोम आहार और कवल आहार का कोई उपयोग नहीं रहता।

ओज आहार ग्रहण करने के बाद शरीर निर्मित होता है। उसके अवयवों का विकास होने के बाद गर्भावस्था में ही रोम आहार शुरू हो जाता है। यह आहार भी जीवन के अन्त तक चलता रहता है। दिन-रात, सोते-जागते, घूमते-ठहरते हर क्षण रोम आहार का ग्रहण होता है और यह भी जीवन-धारण में पूरा सहयोग रहता है।

तीसरा आहार है कवल आहार। यह समय-समय पर ग्रहण किया जाता है। जीवन-धारण में इस आहार का भी उपयोग है, किन्तु इसके ही आधार पर जीवन चलता है, ऐसी बात नहीं है। इस आहार में खाद्य, पेय, लेह्य आदि सब प्रकार के पदार्थों का समावेश होता है। यह आहार मुख के द्वारा लिया जाता है। इस आहार का उपयोग तब तक ही होता है, जब तक शरीर को ओज आहार का पोषण मिलता रहता है। ओज आहार समाप्त होने के बाद दूसरे किसी आहार में जीवन धारण कर रखने की क्षमता नहीं है।

१७. जन्म के तीन प्रकार हैं—

१. गर्भ　　२. उपपात　　३. संमूर्च्छन

जब तक आत्मा कर्म-मुक्त नहीं होती, उसे जन्म और मृत्यु की परिक्रमा करनी होती है। जन्म के बाद मृत्यु और मृत्यु के बाद जन्म, यह एक निश्चित क्रम है। यह क्रम तब तक चलता रहता है, जब तक आत्मा सब कर्मों से मुक्त नहीं हो जाती। जन्म का अर्थ है उत्पत्ति। सब जीवों के उत्पन्न होने का क्रम एक समान नहीं होता, इसलिए जन्म के अनेक प्रकार हो जाते हैं। उन सब प्रकारों का संक्षिप्ततम वर्गीकरण किया जाए तो उसमें उक्त तीन श्रेणियों का निर्धारण किया जा सकता है।

जिन जीवों की उत्पत्ति स्त्री-पुरुष के रज और वीर्य से होती है, उनके जन्म को गर्भ कहा जाता है। इस श्रेणी में केवल पांच इन्द्रिय वाले मनुष्य और तिर्यञ्च प्राणी आते हैं। वे तीन प्रकार के हैं—जरायुज, अण्डज और पोतज।

जरायुज—जो जीव जन्म के समय एक विशेष प्रकार की झिल्ली से परिवेष्टित रहते हैं, उनको जरायुज कहते हैं। मनुष्य, गाय आदि प्राणी जरायुज होते हैं।

अण्डज—जो जीव अण्डों से उत्पन्न होते हैं, वे अण्डज कहलाते हैं। पक्षी, सर्प आदि प्राणी इस वर्ग में आते हैं।

पोतज—जो जीव जन्म के समय खुले अंग वाले होते हैं, जन्म के तत्काल बाद दौड़ने लगते हैं, वे पोतज कहलाते हैं। हाथी, खरगोश, चूहा आदि प्राणियों की गणना इस वर्ग में की जाती है।

जन्म के दूसरे प्रकार का नाम है उपपात। इससे उत्पन्न होने वाले जीव उपपातज कहलाते हैं। इस वर्ग में देव और नारक आते हैं। इनका जन्म नियत स्थान में होता है। जन्म के बाद बहुत कम समय (अन्तर्मुहूर्त) में ही इनके शरीर का पूरा निर्माण हो जाता है। देवों का उत्पत्ति-स्थल शय्या है और नारकों का कुम्भी।

जो जीव स्त्री और पुरुष या नर और मादा के संयोग बिना ही लोकाकाश में बिखरे हुए परमाणुओं और विशिष्ट पर्यावरण के योग से स्वतः उत्पन्न होते हैं, वे संमूर्च्छिम कहलाते हैं। देव, नारक, गर्भज मनुष्य और गर्भज तिर्यञ्चों के अतिरिक्त सभी प्राणी संमूर्च्छन जन्म प्राप्त करते हैं। एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक सभी जीव निश्चित रूप से संमूर्च्छिम होते हैं। पंचेन्द्रिय में कुछ तिर्यञ्च संमूर्च्छिम होते

हैं। मनुष्य के मल, मूत्र, श्लेष्म आदि चौदह स्थानों में उत्पन्न होने वाले मनुष्य संमूर्च्छिम कहलाते हैं। इनका शरीर अंगुल के असंख्यातवें भाग जितना-सा होता है और ये जन्म के तत्काल बाद अपर्याप्त अवस्था में ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। संसार के सभी प्राणी इन तीन प्रकारों से जन्म धारण करते हैं।

१८. मरण के तीन प्रकार हैं—

१. बाल मरण   २. पण्डित मरण   ३. बाल-पण्डित मरण

जन्म और मरण—ये दोनों एक-दूसरे के विरोधी शब्द हैं। फिर भी ये साथ-साथ रहते हैं। जिस प्राणी का जन्म होता है, उसी की मृत्यु होती है। मृत्यु के विना जन्म का अस्तित्व नहीं और जन्म के बिना मृत्यु का भी आधार नहीं है। सत्तरहवें बोल में जन्म के तीन प्रकार बताए गए हैं। इस बोल में मरण के प्रकारों का उल्लेख है।

बाल मरण

असंयमी का मरण बाल मरण कहलाता है। यह पहले से चौथे गुणस्थान तक के जीवों के होता है। इसका सम्बन्ध एक ओर मिथ्यात्व एवं अज्ञान से है तथा दूसरी ओर अव्रत से है। चौथे गुणस्थान में मिथ्यात्व चला जाता है। सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है। फिर भी वहां व्रत नहीं होता, संयम नहीं होता। इस दृष्टि से चौथे गुणस्थान तक बाल मरण माना जाता है। तीसरे गुणस्थान में किसी जीव की मृत्यु नहीं होती।

पंडित मरण

पंडित मरण पूर्ण संयमी व्यक्ति के होता है। यह छठे से चौदहवें गुणस्थान तक होता है। इन गुणस्थानों में साधु के अतिरिक्त कोई जीव नहीं हो सकता। साधु सावद्ययोगविरति रूप संयम की आराधना करता है। संयम की क्षमता के कारण ही इन गुणस्थानों में होने वाले मरण को पण्डित मरण कहा जाता है। तीसरे की भांति बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में भी मृत्यु नहीं होती। इन तीन गुणस्थानों को अमर माना गया है।

बालपंडित मरण

संयमासंयमी के मरण को बालपंडित मरण कहा जाता है। इसमें बाल और पंडित—इन दो शब्दों का प्रयोग असंयम और संयम को एक साथ बताने के लिए है। यह पांचवें गुणस्थान में होता है। पांचवें गुणस्थान का अधिकारी श्रावक है। उसके जितनी सीमा तक असंयम है, उसकी अपेक्षा बाल मरण है और जितना संयम रहता है, उसकी अपेक्षा से पंडित मरण है। असंयम और संयम की एक साथ विवक्षा होने के कारण इस मरण का नाम बालपंडित मरण है।

१९. अन्तराल गति के दो प्रकार हैं—

१. ऋजु २. वक्र

एक योनि या जन्म से दूसरी योनि या जन्म तक की जो यात्रा होती है, गति होती है, उसे अन्तराल गति कहा जाता है। यह दो जन्मों के बीच की गति है। प्रत्येक संसारी प्राणी को यह गति करनी ही होती है।

ऋजु का अर्थ है सीधा। जिस गति में कोई मोड़ न हो, घुमाव न हो, वह ऋजुगति है। इस गति में काल का न्यूनतम विभाग एक समय लगता है। काल का इससे छोटा विभाग कोई है नहीं, अन्यथा ऋजुगति की पहुंच वहां तक हो जाती। इस गति से जीव लोकाकाश के इस छोर से उस छोर तक पहुंच जाता है। इतने कम समय में इतने विस्तृत क्षेत्र का अवगाहन आश्चर्य जैसा प्रतीत होता है। किन्तु विज्ञान ने स्पेस और टाइम के संकोच एवं विकोच का जो सिद्धान्त दिया है, वह जैनदर्शन के कई तथ्यों के सम्बध में संगति विठाने वाला है। अन्तराल गति में जीव की यात्रा का प्रसंग व्यवहार्य हो या नहीं, वैज्ञानिक अवश्य है।

वक्र का अर्थ है टेढ़ा। जिस गति में एक, दो या तीन मोड़ हों, वह वक्र गति कहलाती है। जिस स्थान में जीव मृत्यु को प्राप्त होता है, वहां से विषम श्रेणी के आकाश प्रदेशों में उत्पन्न होने वाला जीव वक्रगति करता है।

ऋजुगति करने वाला जीव एक समय में अपने गन्तव्य तक पहुंच जाता है, इसलिए वह अनाहारक नहीं होता। पूर्व शरीर को छोड़ते समय वह आहार लेकर चलता है और निर्दिष्ट स्थान पर पहुंचते ही

उसे आहार मिल जाता है। किन्तु वक्रगति वाला जीव एक या दो समय तक अनाहारक रहता है—आहार नहीं करता। अन्तराल गति में जीव सशरीर होता है। उसका स्थूल शरीर पीछे छूट जाता है फिर भी सूक्ष्म शरीर साथ रहता है। पांच शरीरों में तैजस और कार्मण—ये दो शरीर सूक्ष्म हैं और तब तक जीव के साथ रहते हैं, जब तक जीव मुक्त नहीं हो जाता।

२०. छद्मस्थ के दो प्रकार हैं—

१. सकषायी (सराग) **२. अकषायी (वीतराग)**

जब तक व्यक्ति को केवल ज्ञान उपलब्ध नहीं होता, तब तक वह छद्मस्थ रहता है। 'अकेवली छद्मस्थः' यह परिभाषा भी उक्त तथ्य को ही पुष्ट करती है। यहां छद्म शब्द का अर्थ है घाती कर्मों का उदय। ज्ञानवरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय—ये चार कर्म घाती हैं। इन कर्मों की विद्यमानता में किसी को केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। सराग और वीतराग शब्द सकषायी के ही पर्याय-वाचक शब्द हैं।

सकषायी छद्मस्थ पहले से दसवें गुणस्थान तक रहता है। ग्यारहवें से चौदहवें गुणस्थान तक रहने वाला जीव अकषायी होता है। किन्तु यहां छद्मस्थ अकषायी की विवक्षा की गई है। यह केवल ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में ही होता है।

कषाय शब्द से राग और द्वेष अथवा क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चारों का ग्रहण किया गया है।

२१. वीतराग के दो प्रकार हैं—

१. छद्मस्थ वीतराग **२. केवली वीतराग**

वीतरागता का अर्थ है—राग और द्वेष का उपशम या क्षय। नौवें गुणस्थान में क्रोध, मान और माया का उपशम या क्षय हो जाता है। दशवें गुणस्थान में केवल सूक्ष्म लोभ बाकी रहता है। इसलिए उस गुणस्थान में रहने वाला जीव वीतराग नहीं होता। दसवें गुणस्थान से ग्यरहवें गुणस्थान में जाने वाला जीव उपशम श्रेणी में स्थित होता

है। वह सूक्ष्म लोभरूप मोह का उपशमन करता है। जो जीव क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होता है, वह मोह कर्म का क्षय कर ग्यारहवें गुणस्थान को लांघकर बारहवें गुणस्थान में पहुंच जाता है। इस गुणस्थान में राग-द्वेष नहीं रहते, फिर भी छद्मस्थता बनी रहती है। जब तक ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्म का उदय रहता है, तब तक केवलज्ञान उपलब्ध नहीं हो सकता। इसलिए ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान के वीतराग छद्मस्थ वीतराग कहलाते हैं।

तेरहवें गुणस्थान में ज्ञानावरणीय आदि तीनों घात्य कर्मों का क्षय होने से केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है। केवलदर्शन केवलज्ञान का सहचारी है। केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त होने के बाद कभी जाते नहीं। ये सिद्धावस्था में भी साथ रहते हैं। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान के वीतराग केवली वीतराग कहलाते हैं।

२२. बंध के दो प्रकार है—

१. ईर्यापथिक   २. साम्परायिक

कर्म का बन्ध तेरहवें गुणस्थान तक निरन्तर होता है। जो बन्ध सकषायी या सराग के होता है, उसे साम्परायिक बन्ध कहा जाता है। अकषायी या वीतराग के जो बन्ध होता है, उसे ईर्यापथिक बन्ध कहा जाता है। ईर्यापथ का अर्थ है—योग। योग अर्थात् मन, वचन और काया की प्रवृत्ति। कषाय रहित योग से जो बन्ध होता है, वही ईर्यापथिक बन्ध कहलाता है। यह ग्यारहवें से तेरहवें गुणस्थान तक होता है। इन गुणस्थानों में आसक्ति या कषाय का अत्यन्त अभाव होने पर भी योगों की चंचलता के कारण बन्धन होता है। कषायजनित स्निग्धता के अभाव में यह बन्धन टिकाऊ नहीं होता। जैसे—रूखी दीवार पर मिट्टी फेंकी जाए तो वह एक बार वहां चिपकती है, किन्तु तत्काल झड़कर अलग हो जाती है। इसी प्रकार वीतराग के कर्म-पुद्गलों का स्पर्शमात्र होता है। यह बन्ध दो समय की स्थिति वाला होता है। जिस आत्मा में कषाय की चिकनाहट रहती है, उसके कर्म का बन्धन टिकाऊ होता है। चिकनाहट जितनी अधिक होगी, बन्धन की दृढ़ता भी उतनी ही अधिक होगी। यह बन्ध संसार के उन सब प्राणियों के होता है, जो सकषायी होते हैं।

२३. संहनन के छह प्रकार हैं—

१. वज्रऋषभनाराच	४. अर्धनाराच
२. ऋषभनाराच	५. कीलिका
३. नाराच	६. सेवार्त

संहनन का अर्थ है शरीर में होने वाली अस्थि-संरचना। देव और नरक गति के जीव वैक्रिय शरीर वाले होते हैं। उस शरीर में हाड, मांस आदि सातों ही धातुएं नहीं होतीं, इसलिए वहां अस्थि-संरचना का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। मनुष्य और तिर्यंच गति में उत्पन्न होने वाले जीवों के औदारिक शरीर होता है। वह शरीर हाड, मांस आदि धातुओं से निर्मित होता है, अतः उक्त छहों संहनन इसी शरीर में प्राप्त होते हैं। अस्थि-संरचना का क्रमिक विकास इस प्रकार होता है—

कुछ शरीरों में अस्थियां परस्पर जुड़ी हुई नहीं होतीं, आमने-सामने होती है। केवल बाहर से शिरा, स्नायु, मांस आदि लिपट जाने के कारण संघटित होती हैं। इस प्रकार की अस्थि-संरचना को 'सेवार्त' कहा गया है। यह सबसे दुर्बल अस्थि-संरचना है। धवला में इसकी तुलना परस्पर असंप्राप्त और शिराबद्ध सर्प की अस्थियों से की गई है।

एक अस्थि-रचना ऐसी होती है, जिसमें अस्थियों के छोर परस्पर जुड़े हुए होते हैं—एक-दूसरे का स्पर्श किये होते हैं, उसे 'कीलिका' कहा गया है।

एक अस्थि-रचना ऐसी होती है, जिसमें नाराच (मर्कटबन्ध) आधा होता है—अस्थियों के छोर परस्पर एक ओर से गुंथे हुए होते हैं, उसे अर्धनाराच कहा गया है।

एक अस्थि-रचना ऐसी होती है, जिसमें नाराच (मर्कटबन्ध) पूरा होता है—अस्थियां दोनों ओर से गुंथी हुई होती हैं, उसे 'नाराच' कहा गया है।

एक अस्थि-रचना ऐसी होती है, जिसमें परस्पर गुंथे हुए दोनों अस्थियों के छोरों पर तीसरी अस्थि का परिवेष्टन होता है, उसे 'ऋषभनारच' कहा गया है।

एक अस्थि-रचना ऐसी होती है, जिसमें उक्त तीनों अस्थियों को भेदकर अस्थिकील (बोल्ट) आर-पार कसा हुआ होता है। उसे 'वज्र-ऋषभ नाराच' कहा गया है। वह सर्वोत्कृष्ट शक्तिशाली संहनन होता है।

इस छठी अस्थि-रचना में तीन शब्द प्रयुक्त हैं—वज्र, ऋषभ और नाराच। अस्थिकील के लिए वज्र, परिवेष्टन अस्थि के लिए ऋषभ और परस्पर गुंथी हुई अस्थि के लिए नाराच शब्द का प्रयोग किया गया है।

अस्थि-संरचना का साधना और स्वास्थ्य दोनों दृष्टियों से विशेष महत्त्व है। शुक्ल ध्यान की साधना के लिए और मोक्ष-गमन के लिए छठे संहनन का होना जरूरी है। शलाका पुरुषों (तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि) के भी छठे प्रकार की अस्थि-रचना होती है। उत्कृष्ट साधना की भांति उत्कृष्ट क्रूर कर्म भी इसी अस्थि-रचना वाले प्राणी करते हैं। एक ओर मोक्ष दूसरी ओर तमस्तमा नरक। एक ही माध्यम से ये दो परिणितियां पुरुषार्थ के सम्यक् और असम्यक् प्रयोग पर निर्भर करती हैं।

चिकित्सा शास्त्र में स्वास्थ्य की दृष्टि से भी अस्थि-संरचना पर बहुत ध्यान दिया गया है। स्वास्थ्य सम्पन्न व्यक्ति के लिए एक शब्द है स्वस्थ। स्वस्थ शब्द का एक अर्थ है अपने में रहना। इसका दूसरा अर्थ है—जिसकी अस्थियां शोभन हों, मजबूत हों, वह स्वस्थ होता है। स्वस्थ के सन्दर्भ में यह अर्थ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। संहनन की पूरी जानकारी के बाद यही निष्कर्ष निकलता है कि साधना और स्वास्थ्य दोनों दृष्टियों से इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

वैक्रिय शरीर में अस्थियां नहीं होतीं। इस दृष्टि से नारक और देवों में किसी प्रकार का संहनन नहीं होता। सिद्धों के शरीर ही नहीं होता। इसलिए वहां संहनन होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। पांच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, असन्नी तिर्यंच और असन्नी मनुष्य में एक सेवार्त संहनन होता है। सन्नी तिर्यंच और सन्नी मनुष्य में छहों संहनन पाए जाते हैं। यौगलिक मनुष्य और तिरेसठ शलाका पुरुषों में एक मात्र वज्रऋषभ-नाराच संहनन होता है।

२४. संस्थान के छह प्रकार हैं—

१. समचतुरस्र	४. कुब्ज
२. न्यग्रोधपरिमण्डल	५. वामन
३. सादि	६. हुण्डक

संस्थान का अर्थ है आकृति। प्रस्तुत प्रसंग में इसका अर्थ है अवयवों की रचना। किस शरीर के अवयवों की रचना कैसी है, इसकी जानकारी संस्थानों के स्वरूप-बोध से की जा सकती है। सात नारकी, पांच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, असन्नी तिर्यंच और असन्नी मनुष्य में एक हुण्डक संस्थान होता है। देव, यौगलिक मनुष्य तथा तिरेसठ शलाका-पुरुषों का संस्थान समचतुरस्र होता है। संज्ञी मनुष्य और संज्ञी तिर्यंच में छहों में से कोई भी संस्थान हो सकता है। सिद्ध आत्मा में कोई संस्थान नहीं होता।

समचतुरस्र

अस्र का अर्थ है कोण। जिस शरीर के चारों कोण समान हों, जिस शरीर के सभी अवयव अपने-अपने प्रमाण के अनुसार हों और जिस शरीर-संरचना में ऊर्ध्व, अधः एवं मध्य भाग सम हों, वह संस्थान समचतुरस्र होता है।

न्यग्रोधपरिमण्डल

न्यग्रोध का अर्थ है बड़ का वृक्ष। जिस शरीर की संरचना में वटवृक्ष की भांति नाभि से ऊपर का भाग बड़ा और नीचे का भाग छोटा हो, उसे न्यग्रोध परिमण्डल कहा जाता है।

सादि

जिस शरीर में ऊपर का भाग छोटा और नीचे का भाग बड़ा हो, वह सादि संस्थान कहलाता है। इसका आकार वल्मीक की तरह होता है।

कुब्ज

जिस शरीर की संरचना में पीठ पर पुद्गलों का अधिक संचय हो,

वह कुब्ज संस्थान है।

वामन

जिस शरीर के सभी अंग-उपांग छोटे हों, वह वामन संस्थान है।

हुण्डक

जिस शरीर की रचना में कोई अवयव प्रमाणोपेत नहीं होता, जिसके सभी अंग-उपांग हुण्ड की तरह संस्थित हों, वह हुण्डक संस्थान है।

२५. समुद्घात के सात प्रकार हैं—

१. वेदना	**५. तैजस**
२. कषाय	**६. आहारक**
३. मारणान्तिक	**७. केवली**
४. वैक्रिय	

- सामूहिक रूप से बलपूर्वक आत्मप्रदेशों को शरीर से वाहर निकालने या उनके इधर-उधर प्रक्षेपण करने को समुद्घात कहा जाता है।
- वेदना आदि निमित्तों से आत्मप्रदेशों का शरीर से वाहर निकलना समुद्घात है।
- कर्मों की स्थिति और अनुभाग के समीचीन उद्घात को समुद्घात कहते हैं।
- मूल शरीर को न छोड़कर तैजस और कार्मण शरीर के साथ जीव-प्रदेशों का शरीर से वाहर निकलना समुद्घात है।

समुद्घात की ये परिभाषाएं श्वेताम्वर और दिगम्वर—दोनों परंपराओं में प्रचलित हैं। सात समुद्घातों में प्रथम छह समुद्घात छद्मस्थ के होते हैं और अन्तिम केवली समुद्घात केवलियों के ही होता है।

वेदनीय समुद्घात

वात, पित्त आदि विकार-जनित रोग या विषपान आदि की तीव्र

वेदना से आत्मप्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना वेदनीय समुद्घात है।

कषाय समुद्घात

कषाय की तीव्रता से आत्म-प्रदेशों का अपने शरीर से तिगुनें प्रमाण में बाहर निकलना कषायसमुद्घात है।

मारणान्तिक समुद्घात

मृत्यु के समय आत्म-प्रदेशों का शरीर से बाहर निकल आगामी उत्पत्तिस्थान तक फैलना मारणान्तिक समुद्घात है।

वैक्रिय समुद्घात

वैक्रिय लब्धि के द्वारा किसी प्रकार की विक्रिया उत्पन्न करनें के लिए मूल शरीर का त्याग न कर आत्मप्रदेशों का बाहर जाना और नाना रूपों की विक्रिया करना वैक्रिय समुद्घात है।

तैजस समुद्घात

किसी व्यक्ति पर अनुग्रह या निग्रह करने के लिए तैजस शरीर का विस्फोट करना तैजस समुद्घात है। इसे तेजोलब्धि भी कहा जाता है।

आहारक समुद्घात

आहारक ऋद्धि से सम्पन्न मुनि अपना सन्देह दूर करने के लिए या किसी अन्य लक्ष्य को पूरा करने के लिए मूल शरीर को छोड़े बिना अपने शरीर से निर्मल स्फटिक के रंग का एक हाथ का पुतला निकालते हैं। वह पुतला जहां कहीं केवली होते हैं, वहां पहुंचकर संदेह का निवारण करता है। अपने प्रश्नों का समाधान पाकर वह पुनः शरीर में प्रवेश कर जाता है। यह आहारक समुद्घात है। इसे आहारक लब्धि भी कहा जाता है।

केवली समुद्घात

जब आयुष्य कर्म की स्थिति और दलिकों से वेदनीय कर्म की स्थिति

और दलिक अधिक होते हैं, तब उनका समीकरण करने के लिए केवली समुद्घात होता है। इसमें जीव के प्रदेश दण्ड, कपाट, मन्थन और अन्तरावगाह कर संपूर्ण लोकाकाश का स्पर्श कर लेते हैं। इस प्रक्रिया में केवल चार समय लगते हैं। अगले चार समयों में क्रमशः वे आत्म-प्रदेश सिमटते हुए पुनः शरीर में स्थित हो जाते हैं। यह समुद्घात तब होता है, जब आयुष्य अन्तर्मुहूर्त जितना ही शेष रहता है।

सभी समुद्घातों में आत्मप्रदेश शरीर से बाहर निकलते हैं और संबंधित कर्म-पुद्गलों का परिशाटन कर पुनः देहस्थित हो जाते हैं। केवली समुद्घात में आत्मा सम्पूर्ण लोकव्यापी हो जाती है।

तृतीय वर्ग

१. तत्त्व के नौ प्रकार हैं—

१. जीव	४. पाप	७. निर्जरा
२. अजीव	५. आश्रव	८. बन्ध
३. पुण्य	६. संवर	९. मोक्ष

विश्व में जितने दर्शन हैं, उन सबकी अलग परम्पराएं हैं, मान्यताएं हैं। तत्त्ववाद भी सबका अपना-अपना है। भारतीय दर्शनों में जैन-दर्शन की अपनी परम्परा है, अपना तत्त्ववाद है। तत्त्व का अर्थ है पारमार्थिक वस्तु या अस्तित्ववान् पदार्थ। मुख्य रूप से वे दो हैं—जीव और अजीव। संसार के दृश्य-अदृश्य सभी पदार्थ इन दो तत्त्वों में समाविष्ट हो जाते हैं। कोई भी ऐसा पदार्थ बाकी नहीं बचता जो इनमें अन्तर्गर्भित न हो।

जैनदर्शन में तत्त्व को विस्तार से समझाने के लिए दो पद्धतियां काम में ली गई हैं—जागतिक और आत्मिक। जहां जागतिक विवेचन की प्रमुखता है और आत्मिकतत्त्व—साधनापक्ष गौण है, वहां छह द्रव्यों की चर्चा है। जहां आत्मिकतत्त्व प्रमुख है और जगत्-रचना का पक्ष गौण है, वहां नौ तत्त्वों का विवेचन उपलब्ध होता है। मोक्ष साधना में उपयोगी ज्ञेय पदार्थ को तत्त्व कहा जाता है। वे संख्या में नौ हैं—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष।

जीव—जिसमें चैतन्य हो, सुख-दुःख का संवेदन हो, वह जीव है।

अजीव—जिसमें चेतना न हो, वह अजीव है।

पुण्य—शुभ रूप में उदय आने वाले कर्म-पुद्गल पुण्य हैं।

पाप—अशुभ रूप में उदय आने वाले कर्म-पुद्गल पाप हैं।

आश्रव—कर्म-पुद्गलों को ग्रहण करने वाली आत्मप्रवृत्ति आश्रव

है।

संवर—वह आत्मपरिणति, जिसमें आश्रव का निरोध होता है, संवर है।

निर्जरा—तपस्या आदि के द्वारा कर्म-विलय होने से आत्मा की जो आंशिक उज्ज्वलता होती है, वह निर्जरा है।

बन्ध—आत्मा के साथ बंधे हुए कर्म-पुद्गलों का नाम वन्ध है।

मोक्ष—कर्म-मुक्त आत्मा अथवा अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित आत्मा मोक्ष है।

उपर्युक्त नौ तत्त्वों में जीव और अजीव मूल तत्त्व हैं। शेष सात तत्त्व जीव और अजीव की अवस्थाएं हैं। पुण्य, पाप और वन्ध पौद्गलिक तत्त्व हैं, इसलिए अजीव की अवस्थाएं हैं। आश्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष जीव की परिणतियां हैं, इसलिए जीव हैं।

२. जीव के चौदह प्रकार हैं—

१. सूक्ष्म एकेन्द्रिय के दो भेद—अपर्याप्त और पर्याप्त
२. बादर एकेन्द्रिय के दो भेद—अपर्याप्त और पर्याप्त
३. द्वीन्द्रिय के दो भेद—अपर्याप्त और पर्याप्त
४. त्रीन्द्रिय के दो भेद—अपर्याप्त और पर्याप्त
५. चतुरिन्द्रिय के दो भेद—अपर्याप्त और पर्याप्त
६. असंज्ञी पंचेन्द्रिय के दो भेद—अपर्याप्त और पर्याप्त
७. संज्ञी पंचेन्द्रिय के दो भेद—अपर्याप्त और पर्याप्त

प्रथम वर्ग में जीव के एक, दो, तीन से लेकर छह तक के प्रकारों को समझाया जा चुका है। तीसरे वर्ग में पुनः जीव के भेदों की चर्चा अप्रासंगिक नहीं, किन्तु आवश्यक है। यहां प्रथम बोल में नौ तत्त्वों का नामोल्लेख हुआ है। उन तत्त्वों को विस्तार से समझने के लिए प्रत्येक तत्त्व के कई-कई भेद बतलाये गये हैं। उसी शृंखला में जीव तत्त्व के चौदह भेद हैं। इन चौदह भेदों के वर्गीकरण का आधार है इन्द्रियां, मन और पर्याप्तियां। एकेन्द्रिय के दो भेद किए गए हैं—सूक्ष्म और बादर। पंचेन्द्रिय के भी दो भेद किए गए हैं—संज्ञी और असंज्ञी।

सूक्ष्म और बादर भेद की कल्पना केवल एक इन्द्रिय वाले जीवों को

ध्यान में रखकर ही की गयी है। शेष सभी जीव बादर ही होते हैं। इसी प्रकार संज्ञी-असंज्ञी की कल्पना में पंचेन्द्रिय जीवों को केन्द्र में रखा गया है। शेष सभी जीव असंज्ञी होते हैं। सूक्ष्म जीव सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं। बादर जीव सूक्ष्म जीवों की तुलना में बहुत कम हैं।

सूक्ष्म-बादर, संज्ञी-असंज्ञी आदि सभी जीव अपने उत्पत्ति-स्थान पर उत्पन्न होते समय अपर्याप्त होते हैं। जिस जीव को जितनी पर्याप्तियां प्राप्त करनी हैं, जब तक उनका निर्माण नहीं होता है, तब तक वह अपर्याप्त कहलाता है। उन पर्याप्तियों का बन्धकाल पूरा होने से ही वह जीव पर्याप्त होता है। सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय—इस प्रकार सात विकल्पों के अपर्याप्त, पर्याप्त के भेद से चौदह भेद हो जाते हैं।

३. अजीव के चौदह प्रकार हैं—

धर्मास्तिकाय के तीन भेद हैं—

१. स्कन्ध
२. देश
३. प्रदेश।

अधर्मास्तिकाय के तीन भेद हैं—

४. स्कन्ध
५. देश
६. प्रदेश।

आकाशास्तिकाय के तीन भेद हैं—

७. स्कन्ध
८. देश
९. प्रदेश।

काल का एक भेद है—

१०. काल

पुद्गलास्तिकाय के चार भेद हैं—

११. स्कन्ध
१२. देश
१३. प्रदेश
१४. परमाणु

अजीव जीव का प्रतिपक्षी तत्त्व है। इस अजीव तत्त्व से बंधे रहने के

कारण ही जीव को संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है। इसलिए साधना की दृष्टि से जीव की तरह अजीव को भी समझना जरूरी है।

अजीव के दो और पांच भेदों की चर्चा दूसरे वर्ग में की जा चुकी है। प्रस्तुत बोल में उन्हीं भेदों की विवक्षा से अजीव तत्त्व के चौदह भेद बतलाये गये हैं। मूलतः अजीव के पांच भेद हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल और पुद्गलास्तिकाय। इनका विस्तार किया जाए तो भेदों की संख्या बढ़ भी सकती है।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय के तीन-तीन भेद हैं—स्कन्ध, देश और प्रदेश। काल का कोई भेद नहीं होता। वह केवल काल तत्त्व ही है। पुद्गल के चार भेद हैं—स्कंध, देश, प्रदेश और परमाणु।

स्कन्ध—अखण्ड वस्तु को अथवा परमाणुओं के एकीभाव को स्कंध कहा जाता है, जैसे—वस्त्र।

देश—वस्तु के बुद्धि कल्पित एक हिस्से को देश कहा जाता है, जैसे—वस्त्र का कोई भाग।

प्रदेश—वस्तु के संलग्न उसके अविभाज्य हिस्से को प्रदेश कहा जाता है।

परमाणु—पुद्गल की अविभाज्य इकाई को परमाणु कहा जाता है।

स्कंध, देश और प्रदेश धर्मास्तिकाय आदि के होते हैं। परमाणु केवल पुद्गल के ही होता है।

पुद्गल के दो भेद हैं—परमाणु और स्कन्ध। परमाणु द्रव्य रूप से अविभाज्य और निरवयव होता है। उसका कोई खण्ड नहीं होता। फिर भी वर्ण, गंध, रस और स्पर्श—पुद्गल के ये चारों लक्षण उसमें भी होते हैं। इनके आधार पर परमाणु का स्वरूप बदलता रहता है। परमाणु का वर्णांतर, गंधांतर, रसांतर और स्पर्शांतर होना सम्मत माना गया है। इस दृष्टि से इसे शाश्वत और अशाश्वत दोनों कहा जा सकता है। दो आदि परमाणुओं का एकीभाव होने से स्कन्ध हो जाता है; जैसे—द्विप्रदेशी स्कन्ध, त्रिप्रदेशी स्कन्ध···संख्येयप्रदेशी स्कन्ध, असंख्येयप्रदेशी स्कन्ध, अनन्तप्रदेशी स्कन्ध।

४. पुण्य के नौ प्रकार हैं—

१. अन्न
२. पान
३. लयन (स्थान)
४. शयन
५. वस्त्र
६. मन
७. वचन
८. काय
९. नमस्कार

नौ तत्त्वों में जीव और अजीव के बाद तीसरा स्थान है पुण्य का। चौथे बोल में पुण्य के नौ प्रकार बतलाए गए हैं।

'शुभं कर्म पुण्यम्।' इस परिभाषा के अनुसार सात वेदनीय आदि शुभ कर्मों को पुण्य कहा जाता है। किन्तु कारण में कार्य का उपचार करने से जिन-जिन निमित्तों से शुभ कर्म का बंध होता है, उन्हें भी पुण्य कह दिया जाता है। पुण्य के नौ प्रकार इसी विवक्षा के आधार पर बतलाए गए हैं।

अन्न पुण्य

संयमी पुरुष को दिए जाने वाले अन्न दान के निमित्त से होने वाला शुभकर्म अन्न पुण्य है।

पान पुण्य

संयमी पुरुष को दिए जाने वाले पानक—जल आदि के निमित्त से होने वाला शुभ कर्म पान पुण्य है।

लयन पुण्य

संयमी पुरुष को दिये जाने वाले मकान के निमित्त से होने वाला शुभ कर्म लयन पुण्य है।

शयन पुण्य

संयमी पुरुष को दिए जाने वाले पाट-बाजोट आदि के निमित्त से होने वाला शुभ कर्म शयन पुण्य है।

वस्त्र पुण्य

संयमी पुरुष को दिए जाने वाले वस्त्र के निमित्त से होने वाला शुभ कर्म वस्त्र पुण्य है।

मन पुण्य

मन की शुभ प्रवृत्ति से होने वाला शुभ कर्म मन पुण्य है।

वचन पुण्य

वचन की शुभ प्रवृत्ति से होने वाला शुभ कर्म वचन पुण्य है।

काय पुण्य

शरीर की शुभ प्रवृत्ति से होने वाला शुभ कर्म काय पुण्य है।

नमस्कार पुण्य

पंच परमेष्ठी को किए जाने वाले नमस्कार के निमित्त से होने वाला शुभ कर्म नमस्कार पुण्य है।

पुण्य का बन्धन सत्प्रवृत्ति से होता है। सत्प्रवृत्ति मोक्ष का उपाय है। जो मोक्ष का उपाय है, वह धर्म है। इसका फलित यह हुआ—जहां धर्म है, वहां पुण्य है। जहां धर्म नहीं है, वहां पुण्य भी नहीं है। पुण्य के लिए धर्म करना सम्मत नहीं है। पर धर्म के बिना पुण्य का कोई अस्तित्व नहीं है अर्थात् पुण्य का स्वतन्त्र बन्धन नहीं हो सकता।

५. पाप के अठारह प्रकार हैं—

१. प्राणातिपात
२. मृषावाद
३. अदत्तादान
४. मैथुन
५. परिग्रह
६. क्रोध
७. मान
८. माया
९. लोभ
१०. राग
११. द्वेष
१२. कलह
१३. अभ्याख्यान
१४. पैशुन्य
१५. परपरिवाद
१६. रति-अरति
१७. माया-मृषा
१८. मिथ्यादर्शनशल्य

पुण्य का प्रतिपक्षी तत्त्व है पाप। पुण्य शुभ कर्म है। पाप अशुभ कर्म है। पुण्य शुभ या सत्प्रवृत्ति के द्वारा होता है। इसी प्रकार पाप अशुभ या असत्प्रवृत्ति के द्वारा होता है। जिस शुभ प्रवृत्ति के द्वारा शुभ

कर्म (पुण्य) का वन्धन होता है, उपचार से उसी को पुण्य कहा जाता है। इसी प्रकार जिस अशुभ प्रवृत्ति के द्वारा अशुभ कर्म का वन्धन होता है, उपचार से उस अशुभ प्रवृत्ति को ही पाप कह दिया जाता है। पापजनक प्रवृत्तियों के वर्गीकरण में प्रमुख रूप से पाप के अठारहं प्रकार वतलाए गए हैं—

१. प्राणातिपात

प्राण-वध मूलक अशुभ प्रवृत्ति से वंधने वाला पाप कर्म।

२. मृषावाद

असत्य-वचन रूप अशुभ प्रवृत्ति से वंधने वाला पाप कर्म।

३. अदत्तादान

अदत्त वस्तु के ग्रहण रूप अशुभ प्रवृत्ति से वंधने वाला पाप कर्म।

४. मैथुन

अब्रह्मचर्य के सेवन से वंधने वाला पाप कर्म।

५. परिग्रह

वस्तु-संग्रह या ममत्व रूप अशुभ प्रवृत्ति से वंधने वाला पाप कम।

६. क्रोध

उत्तेजना से वंधने वाला पाप कर्म।

७. मान

अभिमान से वंधने वाला पाप कर्म।

८. माया

धोखाधड़ी, वंचना आदि करने से वंधने वाला पाप कम।

९. लोभ

लालसा से वंधने वाला पाप कर्म।

१०. राग

रागात्मक प्रवृत्ति से बंधने वाला पाप कर्म।

११. द्वेष

द्वेषात्मक प्रवृत्ति से बंधने वाला पाप कर्म।

१२. कलह

झगड़ालू वृत्ति से बंधने वाला पाप कर्म।

१३. अभ्याख्यान

मिथ्या दोषारोपण करने वाली प्रवृत्ति से बंधनें वाला पाप कर्म।

१४. पैशुन्य

चुगली करने की प्रवृत्ति से बंधने वाला पाप कर्म।

१५. परपरिवाद

पर-निन्दामूलक प्रवृत्ति से बंधने वाला पाप कर्म।

१६. रति-अरति

असंयम में रुचि और संयम में अरुचि के निमित्त से बंधने वाला पाप कर्म।

१७. माया-मृषा

छलनापूर्वक असत्य-संभाषण की प्रवृत्ति से बंधने वाला पाप कर्म।

१८. मिथ्यादर्शनशल्य

विपरीत श्रद्धा से बंधने वाला पाप कर्म।

इन अठारह पापों के अतिरिक्त और भी ऐसी प्रवृत्तियां हैं, जिनके द्वारा पाप का बन्धन होता है। पर प्रस्तुत संदर्भ में अठारह पापों की ही चर्चा है। इस प्रकार की जो अन्य प्रवृत्तियां हैं, उनका इन्हीं में अन्तर्भाव हो सकता है। अठारह पापों में सतरहवां पाप है—माया-मृषा। माया एक पाप है, मृषावाद भी एक पाप है। इन दोनों को एक

साथ रखने का अभिप्राय यह भी है कि एक से अधिक पाप एक साथ हो सकते हैं।

६. आश्रव के पांच प्रकार हैं—

१. मिथ्यात्व	४. कषाय
२. अव्रत	५. योग
३ प्रमाद	

जिस परिणाम से आत्मा में कर्मों का आश्रवण—प्रवेश होता है, उसे आश्रव कहा जाता है। जिस प्रकार मकान के दरवाजा होता है, तालाब के नाला होता है, नौका के छेद होता है, उसी प्रकार जीव के आश्रव होता है। आश्रव जीव का परिणाम है, इसलिए वह जीव है। आश्रव कर्म-वन्ध का हेतु है, इस दृष्टि से मोक्ष का बाधक है। शुभ योग से कर्मों की निर्जरा होती है, इस दृष्टि से वह मोक्ष का साधक है। कर्म-वन्धन के जितने द्वार हैं—निमित्त हैं, वे सब आश्रव हैं। प्रमुख रूप से उसके पांच भेद किए जाते हैं। आश्रव के बीस भेदों का उल्लेख भी यत्र-तत्र उपलब्ध होता है। ये भेद विवक्षाकृत हैं। इस वर्गीकरण में पांच मूल के भेद हैं। शेष पन्द्रह भेद योग आश्रव के अवांतर भेद हैं। उन सबका योग में समाहार हो जाता है। इसलिए प्रस्तुत बोल में पांच ही आश्रवों का ग्रहण किया गया है।

मिथ्यात्व

विपरीत तत्त्वश्रद्धा का नाम मिथ्यात्व है। जीव की दृष्टि को विकृत करने वाले मोह-परमाणुओं के उदय से अयथार्थ में यथार्थ और यथार्थ में अयथार्थ की जो प्रतीति होती है, वह मिथ्यात्व आश्रव है। इसके आभिग्रहिक, अनाभिग्रहिक आदि पांच भेद हैं, जिनकी चर्चा इसी कृति के प्रथम वर्ग के उन्नीसवें वोल में की जा चुकी है।

अव्रत

अत्याग भाव का नाम अव्रत है। इसका सम्बन्ध चारित्र मोह के परमाणुओं से है। ये परमाणु जव तक सक्रिय रहते हैं, अंश रूप में या सम्पूर्ण रूप में हिंसा आदि पापकारी प्रवृत्तियों के त्यागने का मनोभाव

नहीं बनता। अव्रत आश्रव देशव्रत और सर्वव्रत दोनों का बाधक है।

प्रमाद

अध्यात्म के प्रति होने वाले आन्तरिक अनुत्साह का नाम प्रमाद है। इसका सम्बन्ध भी मोह-कर्म के परमाणुओं से है।

कषाय

राग-द्वेषात्मक उत्ताप का नाम कषाय है। चारित्रमोह के परमाणुओं का उदयकाल इसका अस्तित्वकाल है। यह वीतराग-चारित्र की उपलब्धि में बाधक है।

योग

योग का अर्थ है प्रवृत्ति। शरीर, भाषा और मन की शुभ-अशुभ प्रवृत्ति रूप आत्म-परिणति का नाम है योग-आश्रव। जब तक प्रवृत्ति है, तब तक बन्धन है। अशुभ योग से अशुभ कर्म का बन्ध होता है और शुभ योग से शुभ कर्म का। योग का सर्वथा निरोध होने से अयोग संवर अथवा शैलेशी अवस्था प्राप्त होती है।

७. संवर के पांच प्रकार हैं—

१. सम्यक्त्व
२. व्रत
३. अप्रमाद
४. अकषाय
५. अयोग

मोक्ष के बाधक और साधक तत्त्वों की चर्चा में आश्रव को बाधक माना गया है और संवर एवं निर्जरा को साधक। संवर आत्मा की वह परिणति है, जिससे आश्रव का निरोध होता है। इसलिए यह आश्रव का प्रतिद्वन्द्वी या प्रतिपक्षी तत्त्व है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो संवर का अर्थ है—आत्मप्रदेशों का स्थिरीभूत होना। यह मोक्ष-मार्ग की आराधना का प्रकृष्ट हेतु है और आत्म-संयम करने से प्राप्त होता है। संवर के पांच भेद हैं—

सम्यक्त्व संवर

यथार्थ तत्त्वश्रद्धा का नाम सम्यक्त्व है। जीव, अजीव आदि नौ तत्त्वों

के बारे में सही श्रद्धा का होना और विपरीत श्रद्धा का त्याग करना—सम्यक्त्व संवर का स्वरूप है। इसे मिथ्यात्व आश्रव का प्रतिपक्षी माना गया है।

व्रत संवर

यह अव्रत का प्रतिपक्षी तत्त्व है। इसके दो रूप हैं—देशव्रत और सर्वव्रत। सपाप प्रवृत्तियों का आंशिक त्याग देशव्रत संवर है और इनका जीवन भर के लिए सब प्रकार से त्याग सर्वव्रत संवर है।

अप्रमाद संवर

अध्यात्म के प्रति होने वाली सम्पूर्ण जागरूकता का नाम अप्रमाद है। इस स्थिति में व्यक्ति कोई पापकारी प्रवृत्ति नहीं कर सकता।

अकषाय संवर

राग-द्वेषात्मक उत्ताप जितना कम होता है, उतना ही कषाय कम होता है। कषाय को सर्वथा क्षीण कर देना अकषाय संवर है। यह कषाय आश्रव का प्रतिपक्षी है।

अयोग संवर

योग का अर्थ है शरीर, वाणी और मन की प्रवृत्ति। प्रवृत्ति का निरोध करना अयोग संवर है। प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है—शुभ और अशुभ। अशुभ प्रवृत्ति का सम्पूर्ण निरोध व्रत संवर है और शुभ प्रवृत्ति का सम्पूर्ण निरोध अयोग संवर है। जब तक सम्पूर्ण निरोध नहीं होता है, उसे अयोग संवर का अंश कहा जाता है। अयोग संवर की स्थिति में पहुंचने के तत्काल बाद जीव मुक्त हो जाता है।

वैसे संवर के अनेक प्रकार बतलाए गए हैं, पर वे अलग-अलग विवक्षाएं हैं। संवर के बीस भेद भी काफी प्रसिद्ध हैं। सामान्यतः सभी भेदों का समावेश इन पांच भेदों में हो जाता है।

८. निर्जरा के बारह प्रकार हैं—

बाह्य—६

१. अनशन   २. ऊनोदरी

३. भिक्षाचरी ५. कायक्लेश

४. रसपरित्याग ६. प्रतिसंलीनता

आभ्यन्तर—६

७. प्रायश्चित्त १०. स्वाध्याय

८. विनय ११. ध्यान

९. वैयावृत्त्य १२. व्युत्सर्ग

नौ तत्त्वों में सातवां तत्त्व है निर्जरा। जैन सिद्धान्त दीपिका में निर्जरा तत्त्व को परिभाषित करने वाले दो सूत्र हैं—

'तपसा कर्मविच्छेदादात्मनैर्मल्यं निर्जरा'

'उपचारात्तपोऽपि'

तपस्या के द्वारा कर्मों का विच्छेद होने पर आत्मा की जो उज्ज्वलता होती है, वह निर्जरा है। इस परिभाषा के अनुसार तपस्या निर्जरा का कारण है। कारण में कार्य का उपचार करने से तपस्या को भी निर्जरा कहा जाता है। उसके बारह भेद हैं। इस दृष्टि से तप के भी बारह भेद हैं। किन्तु मुख्य रूप से उसे दो भागों में विभक्त किया गया है—बाह्य तप और आभ्यन्तर तप।

जो तप बाह्य रूप से दिखाई देता है, विशेष रूप से स्थूल शरीर को प्रभावित करता है, वह बाह्य तप है। उसके छह प्रकार हैं—अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरी, रसपरित्याग, कायक्लेश और प्रतिसंलीनता। इन छहों में सबसे प्रथम स्थान मिला है खाद्यसंयम को। बाह्य तप के चार भेद इसी परिप्रेक्ष्य में किए गए हैं। साधना का विकास करने के लिए यह आवश्यक भी है। जो व्यक्ति भोजन का भी संयम नहीं कर सकता, वह संयम और तप की अग्रिम भूमिकाओं पर आरोहण करने में सफल कैसे होगा? इस दृष्टि से निर्जरा अथवा तप का प्रारम्भ यहीं से माना गया है।

अनशन

अनशन का अर्थ है आहार का परिहार। उपवास और उससे आगे जितनी तपस्या की जाती है, वह इसके अन्तर्गत है। अध्यात्म की दृष्टि

से आजीवन आहार का त्याग किया जाता है, उसे 'संथारा' कहा जाता है। वह भी अनशन ही कहलाता है।

ऊनोदरी

ऊन यानी कमी। सामान्यतः खुराक में कमी करने का नाम ऊनोदरी है। इसमें भोजन और पानी दोनों सम्मिलित हैं। वैसे वस्त्र, पात्र आदि उपकरणों की अल्पता भी ऊनोदरी तप में अन्तर्गर्भित है। उपवास से छोटी तपस्या—नवकारसी, प्रहर, एकाशन आदि का भी इसी में समावेश होता है।

भिक्षाचरी

भिक्षाचरी का दूसरा नाम है 'वृत्तिसंक्षेप'। इसमें विविध प्रकार की प्रतिज्ञाओं से अपनी खाद्य-विधि को और अधिक सीमित किया जाता है।

रसपरित्याग

दूध, दही, घी आदि रसीले खाद्य पदार्थों का परित्याग करना।

कायक्लेश

अनेक प्रकार के आसनों द्वारा शरीर को साधने का नाम कायक्लेश है। इससे एक ही आसन में घंटों तक बैठने का अभ्यास सध जाता है।

प्रतिसंलीनता

इन्द्रियों, मन आदि की बहिर्मुखी प्रवृत्ति का प्रतिसंहरण करने या उसे अन्तर्मुखी बनाने का नाम प्रतिसंलीनता है।

बाह्य तप अथवा निर्जरा के उपर्युक्त भेदों में ध्यान, व्युत्सर्ग आदि होते ही नहीं, यह बात नहीं है। प्रवृत्ति की प्रधानता और गौणता के आधार पर यह वर्गीकरण है। वैसे तो तप के किसी भी प्रकार में अन्य तपस्याएं भी की जा सकती हैं।

बाह्य तप के छह भेदों की चर्चा के बाद आभ्यन्तर तप की चर्चा है। जो तप अन्तःशरीर यानी सूक्ष्म-शरीर को अधिक तपाता है, जिससे कर्म-शरीर क्षीण होता है, वह आभ्यन्तर तप है। इस तप का

स्थूल शरीर पर विशेष प्रभाव परिलक्षित नहीं होता, भीतर ही भीतर कर्म-शरीर (संस्कार शरीर) में विस्फोट करने की प्रक्रिया चलती रहती है। मोक्ष-साधना का अन्तरंग कारण होने से इस तप को आभ्यन्तर तप कहा जाता है। इसके भी छह प्रकार हैं—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग।

प्रायश्चित्त

दोष की विशुद्धि के लिए जो प्रयत्न किया जाता है, वह प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्त के अनेक प्रकार हैं। वही व्यक्ति प्रायश्चित्त स्वीकार करता है, जो ऋजु होता है और जिसके सामने अपनी आत्मा को निर्मल बनाने का लक्ष्य रहता है।

विनय

विनय के दो अर्थ हैं – कर्मों का अपनयन और बड़ों का बहुमान। यह प्रवृत्त्यात्मक विनय है। इसका निवृत्तिपरक अर्थ है—आशातना न करना। आशातना अर्थात् असद् व्यवहार। आशातना का अभाव और बहुमान का भाव, यह विनय की परिभाषा है। इससे ज्ञान, दर्शन और चारित्र की विशेष निर्मलता होती है तथा मन, वचन और काय की पवित्रता सधती है।

वैयावृत्त्य

सहयोग की भावना से सेवा-कार्य में जुड़ना वैयावृत्त्य कहलाता है। इस तप की आराधना करने वाला आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, रोगी, नवदीक्षित आदि की अपेक्षाओं को समझकर सेवा-भावना और कर्तव्यभावना की प्रेरणा से उनका सहयोगी बनता है। पूर्ण आत्मार्थी भाव का विकास होने से ही वैयावृत्त्य किया जा सकता है।

स्वाध्याय

सत्-शास्त्र के अध्ययन का नाम स्वाध्याय है। यह आत्मलीनता की स्थिति में ही हो सकता है। अध्येता को आत्मा से हटाकर पदार्थ जगत् की ओर धकेलने वाला अध्ययन स्वाध्याय की कोटि में नहीं आ सकता।

ध्यान

किसी एक आलम्बन पर मन को स्थापित करने अथवा मन, वचन और काय के निरोध को ध्यान कहा जाता है। ध्याता और ध्येय के वीच पूर्ण रूप से तादात्म्य घटित होने की स्थिति में ही ध्यान हो पाता है अन्यथा नहीं।

व्युत्सर्ग

व्युत्सर्ग का अर्थ है विसर्जन करना, छोड़ना। यह अपने शरीर का हो सकता है, वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों का हो सकता है, किसी के सहयोग का हो सकता है और भोजन-पानी का भी हो सकता है।

जिस प्रकार वाह्य तप करते समय आभ्यान्तर तप किया जा सकता है, उसी प्रकार आभ्यन्तर तपः-साधना के काल में वाह्य तप भी हो सकता है। क्योंकि मूलतः तप एक ही प्रकार का है। निमित्त भेद से उसके वारह भेद किए गए हैं।

९. वंध के चार प्रकार हैं—

१. प्रकृति
२. स्थिति
३. अनुभाग
४. प्रदेश

वन्ध शब्द का अर्थ है वन्धन में लेना। इस शब्द के साथ सम् उपसर्ग जोड़ दिया जाए तो इसका अर्थ हो जाता है सम्बन्धित होना या मिलना। आत्मा के सन्दर्भ में वन्ध शब्द का प्रयोग आत्मा और कर्म-पुद्गलों की सम्बन्ध-योजना का वाचक है। इस सम्बन्ध में आत्मा और कर्म की सत्ता अलग-अलग नहीं रहती। वे इस प्रकार एकीभूत हो जाते हैं, जैसे तिलों में तैल होता है, दूध में घी होता है। आत्मा और कर्मों का यह सम्वन्ध प्रवाह रूप से अनादि है। संसारी जीव के सामने ऐसा समय कभी नहीं आता, जब वह कर्मों के वन्धन से मुक्त रहता हो।

वन्धन के कई प्रकार हैं। पर मुख्य रूप से वह चार प्रकार का ही है। इन चारों प्रकारों में मूल वन्ध है प्रदेश वन्ध। बाकी के वन्ध तो इसके साथ-साथ होते हैं।

कर्म-वर्गणा का आत्म-प्रदेशों के साथ सम्बन्ध होना प्रदेश बन्ध है।

आत्मा से सम्बद्ध होने वाले कर्मों में किस कर्म का क्या स्वभाव है; वह आत्मा के किस गुण को प्रभावित करेगा; इस प्रकार का निर्णय होना प्रकृति बन्ध है।

कौन कर्म कितने समय तक आत्मा से सम्बद्ध रहेगा; कि:। अवधि के बाद वह अपना फल देगा; ऐसी व्यवस्था का नाम स्थिति बन्ध है।

किस कर्म का बन्ध तीव्र परिणामों से हुआ है; किस कर्म का बन्ध मन्द परिणामों से हुआ है; कौन कर्म तीव्र-विपाकी होगा और कौन कर्म मन्द-विपाकी; ऐसी समायोजना का नाम अनुभाग बन्ध है।

जिस समय प्रदेश-बन्ध होता है, उसके साथ-साथ ही शेष तीनों बन्ध हो जाते हैं। कर्म-बन्धन या उसके फल भोग में किसी भी अदृश्य शक्ति का भोग नहीं है। आत्मा के अपने पुरुषार्थ और कर्मों के परिणमन की विचित्रता से सारी प्रक्रिया अपने आप सम्पादित हो जाती है।

१०. मोक्ष के चार हेतु हैं—

१. सम्यक् दर्शन **३. सम्यक् चारित्र**
२. सम्यक् ज्ञान **४. सम्यक् तप**

जैन धर्म का लक्ष्य है मोक्ष। मोक्ष का अर्थ है—सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होने से आत्मा की अपने स्वरूप में अवस्थिति। दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कहा जा सकता है—बद्ध आत्मा का मुक्त होना ही मोक्ष है। इस दृष्टि से मोक्ष और मुक्त आत्मा दो अलग-अलग तत्त्व नहीं हैं। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा अपने कारण से बंधती है और अपने ही कारण से मुक्त होती है। दूसरा कोई भी उसे बांधने वाला या मुक्त करने वाला नहीं है। अब प्रश्न यह है कि आत्मा स्वयं मुक्त होती है तो मुक्त होने की प्रक्रिया क्या है?

दसवें बोल में मुक्त होने के चार हेतुओं का उल्लेख किया गया है। सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप की आराधना से मोक्ष की प्राप्ति होती है। एक दृष्टि से देखा जाए तो दर्शन, ज्ञान और चारित्र आत्मा के निजी गुण हैं। उन गुणों की पूर्ण रूप से अभिव्यक्ति होने पर ही

मोक्ष संभव है। तप उन गुणों की अभिव्यक्ति का साधन है। किन्तु प्रारम्भ में ज्ञान, दर्शन आदि भी साधन के रूप में काम आते हैं, जैसे—क्षायक सम्यक्त्व आत्मा का स्वरूप है, इसलिए साध्य है और दर्शन का अभ्यास उसका साधन है। इसमें आज्ञारुचि, अभिगमरुचि आदि दस रुचियों तथा शम, संवेग आदि सम्यक्त्व के लक्षणों को आत्मसात् करने का अभ्यास किया जाता है।

केवल ज्ञान साध्य है और मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि उसके साधन हैं। व्यवहार में ज्ञान का जो अभ्यास किया जाता है, वह साधन के रूप में ही है।

क्षायिक चारित्र का अर्थ है वीतरागता। वह आत्मा का स्वरूप है। सामायिक चारित्र, छेदोपस्थाप्य चारित्र आदि उस स्वरूप को उपलब्ध करने के साधन हैं। साध्य और साधन का यह भेद प्रारम्भ में रहता है। जैसे-जैसे अन्तर्मुखता बढ़ती है, स्वरूप के निकट पहुंच होने लगती है, धीरे-धीरे भेद समाप्त हो जाता है। वहां साधन और साध्य एक हो जाते हैं।

तपस्या को मोक्ष का कारण माना गया है। वह अन्त तक साधन के रूप में ही प्रयुक्त होती है। कुल मिलाकर दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप—चारों ही मोक्ष के कारण हैं और इनका निरन्तर अभ्यास किया जाता है।

११. दृष्टि के तीन प्रकार हैं—

१. सम्यक् दृष्टि
२. मिथ्या दृष्टि
३. सम्यक्-मिथ्या दृष्टि

मोहनीय कर्म के विलय से जो आत्म-गुण प्रकट होते हैं, उनमें प्रमुख दो हैं—सम्यक्त्व और चारित्र। चारित्र-मोह विलय से चारित्र की उपलब्धि होती है और दर्शन-मोह के विलय से सम्यक्त्व प्राप्त होता है। विलय तीन प्रकार का होता है—उपशम, क्षय और क्षयोपशम। उपशम और क्षय की परिणति एक समान है। पर तत्त्वतः इनमें बड़ा अन्तर है। उपशम में मोह कर्म की प्रकृतियां दबती हैं, निमित्त पाकर उनमें फिर उभार आ जाता है। क्षय में उन प्रकृतियों का सर्वथा विलय हो जाता है। क्षयोपशम इन दोनों से भिन्न है। इनमें न तो कर्मों का

सर्वथा विलय होता है और न ही होता है उपशम। इसमें कर्मों का हल्कापन होता है अर्थात् विपाक रूप में उनका वेदन नहीं होता। दर्शनमोहनीय कर्म और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया तथा लोभ के क्षय, उपशम और क्षयोपशम से जो सम्यक्त्व उपलब्ध होता है, वह क्रमशः क्षायिक सम्यक्त्व, औपशमिक सम्यक्त्व और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहलाता है। सम्यक्त्व को दर्शन या दृष्टि भी कहा जाता है।

जीव-अजीव आदि सभी तत्त्वों का यथार्थ ग्रहण करने वाली दृष्टि सम्यक्-दृष्टि है। यह दृष्टि जिसे प्राप्त होती है, वह व्यक्ति भी सम्यक्-दृष्टि कहलाता है।

सम्यक् दृष्टि जिस व्यक्ति को उपलब्ध हो जाती है, उसे मोक्ष गमन का आरक्षण-पत्र उपलब्ध हो जाता है—देर-सवेर उसकी मुक्ति होनी ही है। शास्त्रों में कहा है कि एक बार सम्यक्त्व का स्पर्श हो जाने पर कुछ कम अर्ध पुद्गलपरावर्तन में मुक्त होना निश्चित है। जब तक वह मुक्त नहीं होता है और सम्यक्दृष्टि रूप में संसार में रहता है, तब तक प्रशस्त गतियों और कुलों में उत्पन्न होता है। इस अर्थ में यह कहा जा सकता है कि सम्यक्त्व आत्मविकास की सुदृढ़ पृष्ठभूमि है। इस पर आरूढ़ होकर ही आत्मा पूर्ण विकास की स्थिति तक पहुंच सकती है।

जो दृष्टि जीव, अजीव आदि तत्त्वों का अयथार्थ ग्रहण करती है, वह मिथ्यादृष्टि है। यह दृष्टि जिस व्यक्ति की होती है, उपचार से वह व्यक्ति भी मिथ्यादृष्टि कहलाता है।

जीव-अजीव आदि तत्त्वों पर सम्यक् श्रद्धा रखने पर भी किसी एक तत्त्व के प्रति सन्देह रखने वाली दृष्टि सम्यक्-मिथ्या-दृष्टि है। उसके योग से वह व्यक्ति भी सम्यक्-मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

१२. सम्यक्त्व के पांच प्रकार हैं—

१. औपशमिक
२. क्षायिक
३. क्षायोपशमिक
४. सास्वादन
५. वेदक

जैन-दर्शन में दो शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण हैं—मिथ्यात्व अर सम्यक्त्व। मिथ्यात्व संसार में परिभ्रमण का हेतु है और सम्यक्त्व जीव को संसरण से मुक्ति की ओर ले जाता है। सामान्यतया संसार के प्राणी मिथ्यात्व दशा में जीते हैं। कोई भी प्राणी अपनी चेतना का ऊर्ध्वारोहण करता है, उसके लिए सम्यक्त्व दशा को उपलब्ध करना जरूरी है। चेतना के विकास और सम्यक्त्व का अविनाभावी सम्बन्ध है। जहां चेतना का विकास है, वहां सम्यक्त्व है और जहां सम्यक्त्व है वहां चेतना का विकास है।

कुछ व्यक्ति मिथ्यात्व दशा में ही अपने चैतन्य विकास के लिए अभियान शुरू कर देते हैं। उनमें जो कषाय की अल्पता, वृत्ति का अनाग्रहीपन, मोह का हल्कापन, सच्चरित्र के प्रति लगाव आदि होता है, उससे उनका रास्ता एक सोमा तक प्रशस्त हो जाता है। किन्तु सम्यक्त्व को उपलब्ध किए बिना मोक्ष का आरक्षण पक्का नहीं होता। सम्यक्त्व का अर्थ है—तत्त्व के बारे में सही श्रद्धा। तो तत्त्व जैसा है, उसे उसी रूप में समझना। इस अर्थ में सम्यक्त्व एक दर्पण है। जिस प्रकार दर्पण में व्यक्ति या वस्तु का यथार्थ प्रतिबिम्ब पड़ता है, वैसे ही सम्यक्त्व के द्वारा जीव, अजीव आदि तत्त्वों का सही बोध होता है। उसके पांच प्रकार हैं—

औपशमिक
क्षायिक
क्षायोपशमिक
सास्वादन
वेदक

दर्शन मोह की तीन प्रकृतियां—मिथ्यात्वमोह, मिश्रमोह और सम्यक्त्वमोह तथा चारित्रमोह की चार प्रकृतियां—अनन्तानुवन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ—ये सातों प्रकृतियां जिस समय सर्वथा उपशान्त हो जाती हैं, उस समय जो सम्यक्त्व उपलब्ध होता है, वह औपशमिक सम्यक्त्व कहलाता है। औपशमिक सम्यक्त्व की स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की ही है। उसके बाद उसमें बदलाव हो जाता है।

मोहकर्म की उपर्युक्त सातों प्रकृतियों का सर्वथा क्षय होने से प्राप्त होने वाला सम्यक्त्व क्षायिक सम्यक्त्व है। यह सम्यक्त्व प्राप्त होने के वाद सदा बना रहता है।

उपर्युक्त सात प्रकृतियां जब स्थूल रूप में विपाकावस्था में नहीं रहतीं, अपने फल का स्पष्ट अनुभव नहीं करवातीं, उस समय उपलब्ध होने वाला सम्यक्त्व क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहलाता है।

औपशमिक सम्यक्त्व की स्थिति पूरी होने पर जीव उस सम्यक्त्व को छोड़ने लगता है। जिन क्षणों में सम्यक्त्व पूरा नहीं छूटता है—मिथ्यात्व दशा उपलब्ध नहीं होती है, उन क्षणों में होने वाला सम्यक्त्व सास्वादन सम्यक्त्व कहलाता है।

क्षयोपशम सम्यक्त्व से क्षायिक सम्यक्त्व को उपलब्ध करने वाला जीव जिस समय सातों प्रकृतियों का अन्तिम रूप से वेदन करता है, उस समय होने वाला सम्यक्त्व वेदक सम्यक्त्व कहलाता है।

जो व्यक्ति सम्यक्त्वी हो जाता है, उसके सम्यक्त्व अवस्था में दुर्गति के आयुष्य का वन्धन नहीं होता। सम्यक्त्व प्राप्ति का वड़ा लाभ यह माना गया है कि जिस जीव को एक वार भी सम्यक्त्व उपलब्ध हो जाता है, उसकी मुक्ति निश्चित रूप से हो जाती है।

१३. सम्यक्त्व के दो हेतु हैं—

१. निसर्ग (सहज)   २. अधिगम (उपदेश आदि से प्राप्त)

१४. सम्यक्त्व के पांच लक्षण हैं—

१. शम

२. संवेग

३. निर्वेद

४. अनुकम्पा

५. आस्तिक्य

तेरहवें वोल में सम्यक्त्व को उपलब्ध करने के दो हेतु वतलाए गए हैं—निसर्ग और अधिगम। निसर्ग अर्थात् स्वभाव। किसी-किसी जीव के विना किसी प्रयत्न के नैसर्गिक रूप से मिथ्यात्व क्षीण हो जाता है, अनादि काल से आत्मा से संश्लिष्ट कर्म पहाड़ी नदी में घिसकर गोल

हुए पत्थरों की तरह अपने आप घिसकर दूर हो जाते हैं। सहज कर्म-विलय से उपलब्ध सम्यक्त्व निसर्ग सम्यक्त्व कहलाता है।

गुरु के उपदेश अथवा किसी अन्य बाह्य निमित्त से मिलने वाला सम्यक्त्व अधिगम सम्यक्त्व कहलाता है। सम्यक्त्व जीवन का एक विशिष्ट आयाम है। पर प्रश्न यह है कि इसकी प्राप्ति का प्रामाण्य क्या है? कौन व्यक्ति सम्यक्त्वी है? और कौन नहीं है? यह अवबोध कैसे हो सकता है? निश्चयनय की दृष्टि से विचार किया जाए तो विशिष्ट ज्ञानी को छोड़कर कोई भी व्यक्ति अपने या दूसरे के सम्यक्त्व का साक्षी नहीं बन सकता। पर व्यवहारनय की अपेक्षा से उसके पांच लक्षण बतलाए गए हैं—शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य। चौदहवें बोल में सम्यक्त्व के इन पांचों लक्षणों का उल्लेख है।

शम—क्रोध आदि कषायों का उपशम।

संवेग—मोक्ष की अभिलाषा।

निर्वेद—संसार से विरक्ति।

अनुकम्पा—प्राणीमात्र के प्रति दयाभाव।

आस्तिक्य—आत्मा, कर्म, कर्मफल आदि में विश्वास।

सम्यक्त्व के इन पांचों लक्षणों को निम्नलिखित पद्य में सरलता से समझा जा सकता है—

शान्त हैं आवेग सारे, शान्ति मन में व्याप्त है,
मुक्त होने की हृदय में प्रेरणा पर्याप्त है।
वृत्ति में वैराग्य, अन्तर्भाव में करुणा विमल,
अटल आस्था—ये सभी सम्यक्त्व के लक्षण सबल॥

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा आदि सम्यक्त्व के दूषण हैं। दूषणों का परिहार करने वाला और लक्षणों को विस्तार देने वाला व्यक्ति अपने सम्यक्त्व को सुरक्षित और उज्ज्वल रखने में समर्थ हो सकता है।

१५. सम्यक्त्व के पांच दूषण हैं—

१. शंका
२. कांक्षा
३. विचिकित्सा
४. परपाषण्डप्रशंसा
५. परपाषण्डपरिचय

जो तत्त्व जिस रूप में है, उसे उसी रूप में समझने का नाम सम्यक्त्व है। जिन कारणों से सम्यक्त्व दूषित होता है, वे सम्यक्त्व के दूषण माने गए हैं। युगीन सन्दर्भ में इन्हें प्रदूषण की संज्ञा दी जा सकती है। जिस प्रकार हवा, पानी आदि का प्रदूषण मानव-जीवन पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है, उसी प्रकार आत्मा के विशिष्ट गुण सम्यक्त्व को दूषित या मलिन बनाने के कारण शंका, कांक्षा आदि प्रदूषण हैं।

प्रथम दूषण है शंका। शंका का अर्थ है सन्देह। यह तत्त्वों के प्रति हो सकता है, लक्ष्य के प्रति भी हो सकता है। संदिग्ध अवस्था में की गई प्रवृत्ति वांछित परिणाम नहीं ला सकती। चाहे वह प्रवृत्ति तत्त्व-ज्ञान की हो, मंत्र-जाप की हो या अपने इष्ट को आराधने की हो। संदेहातीत आस्था ही व्यक्ति को इस प्रदूषण से त्राण दे सकती है।

कांक्षा का अर्थ है मिथ्याचार के स्वीकार की अभिलाषा अथवा लक्ष्य से विपरीत दृष्टिकोण में अनुरक्ति। यह मन की डांवाडोल अवस्था की प्रतीक है। कांक्षा की विद्यमानता में कोई व्यक्ति निर्द्वन्द्व नहीं हो सकता।

तीसरा दूषण है विचिकित्सा। सत्याचरण की फलप्राप्ति या लक्ष्य पूर्ति के साधनों के प्रति संशयशीलता का नाम विचिकित्सा है। सीधी भापा में कहा जाए तो यों कहा जा सकता है कि व्यक्ति का लक्ष्य है मोक्ष। मोक्ष तक पहुंचने का साधन है धर्म। धर्म के प्रति संदेह करना इस दूषण के अन्तर्गत आता है।

परपापण्डप्रशंसा और परपाषण्डपरिचय का सम्बन्ध लक्ष्य से प्रतिगामी पुरुप या सिद्धान्त की प्रशंसा करने और उसके साथ संपर्क बढ़ाने से है। जो व्यक्ति लक्ष्य से प्रतिगामी पुरुप या सिद्धान्त की प्रशंसा करता है, वह उस गलत तत्त्व की प्रशंसा करता है, जो उक्त पुरुप को लक्ष्य से विपरीत दिशा में ले जाता है। यही वात परिचय की है।

सम्यक्त्व के इन पांचों दूशणों को जानकर इनसे निर्लिप्त रहना ही सम्यक्त्व की विशुद्धि हैं और यही जीवन की सफलता है।

१६. सम्यक्त्व के पांच भूषण हैं—

१. स्थैर्य
२. प्रभावना
३. भक्ति
४. कौशल
५. तीर्थसेवा

शरीर को अलंकृत करने के लिए आभूषण पहने जाते हैं। उसी प्रकार सम्यक्त्व को सजाने-संवारने के लिए सम्यक्त्व के पांच भूषण बतलाए गए हैं। आभूषणों से शरीर का सौन्दर्य बढ़ता है। सम्यक्त्व के भूषणों से आत्मा का सौन्दर्य बढ़ता है। आत्मा यदि सुन्दर नहीं है तो शरीर को कितने ही आभूषण पहना दिए जाएं, आन्तरिक सौन्दर्य की वृद्धि नहीं होगी। आत्मा का सौन्दर्य बढ़ाने के लिए सम्यक्त्व के भूषणों का उपयोग करना जरूरी है। सम्यक्त्व के लक्षण और दूषणों की साधारण जानकारी के बाद उनके भूषणों को समझना भी आवश्यक हो जाता है। इसी दृष्टि से इस बोल में भूषणों को संक्षिप्त चर्चा की गई है।

स्थैर्य

अपने मन को लक्ष्य और उसकी प्राप्ति के साधनों में स्थिर करना।

प्रभावना

धर्म की महिमा का विस्तार हो, वैसा प्रयत्न करना। जिन-प्रवचन की प्रभावना करना।

भक्ति

देव, गुरु और धर्म की भक्ति में निरन्तर लीन रहना।

कौशल

जैन तत्त्व-विद्या की विशद जानकारी प्राप्त कर उसमें निष्णात होना। जिन प्रवचन में मूढ़ नहीं बनना।

तीर्थसेवा

धर्मसंघ की वृद्धि करना और विचलित होती हुई धार्मिक आस्था का स्थिरीकरण करना।

१७. ज्ञान के आठ आचार हैं—

१. काल	५. अनिह्नवन
२. विनय	६. सूत्र
३. बहुमान	७. अर्थ
४. उपधान	८. सूत्रार्थ

ज्ञान का अर्थ है जानना। यह जीव और अजीव का विभाजक तत्त्व है। संसार में छोटे-बड़े जितने जीव हैं, उनमें न्यूनतम ज्ञान की मात्रा अवश्य होती है। जैन सिद्धान्त की भाषा में इसे क्षायोपशमिक ज्ञान कहा जाता है। यह न हो तो फिर जीव और अजीव में कोई अन्तर ही नहीं हो सकता।

सब जीवों का ज्ञान समान नहीं होता। कुछ जीवों में एक साथ तीन या चार ज्ञान हो सकते हैं। कम से कम दो ज्ञान या अज्ञान—मति और श्रुत हर संसारी प्राणी में होते हैं। केवलज्ञानी इसके अपवाद हैं। केवलज्ञान उपलब्ध हो जाने के बाद शेष चारों ज्ञान अकिंचित्कर हो जाते हैं। किन्तु एक दृष्टि से देखा जाए तो उनका केवलज्ञान दूसरों के लिए उपयोगी तभी बनता है, जब वे श्रुतज्ञान का सहारा लेते हैं।

सूत्र के पाठ को उलट-पलटकर पढ़ना, सूत्र पाठ के साथ दूसरे पाठ जोड़कर पढ़ना, अक्षर छोड़कर पढ़ना, अक्षर बढ़ाकर पढ़ना आदि श्रुतज्ञान के चौदह अतिचार हैं। इन अतिचारों से बचने वाला और ज्ञान के आचार के प्रति जागरूक रहने वाला अपनी ज्ञान-सम्पदा की वृद्धि करता है। ज्ञान के आठ आचार बतलाए गए हैं—

काल

श्रुत का अध्ययन करने के लिए निर्दिष्ट काल में श्रुत का अभ्यास करना।

विनय

ज्ञान प्राप्ति के प्रयत्न में विनम्र रहना।

बहुमान

ज्ञान के प्रति आन्तरिक अनुराग रखना।

उपधान

श्रुतवाचन के समय आयम्बिल आदि विशेष तप का अनुष्ठान करना।

अनिह्नवन

ज्ञान और ज्ञानदाता आचार्य का गोपन न करना।

सूत्र

सूत्र का वाचन करना।

अर्थ

अर्थ का वाचन करना।

सूत्रार्थ

सूत्र और अर्थ, दोनों का वाचन करना।

१८. दर्शन के आठ आचार हैं—

१. निःशंकिता
२. निष्कांक्षिता
३. निर्विचिकित्सा
४. अमूढदृष्टि
५. उपबृंहण
६. स्थिरीकरण
७. वात्सल्य
८. प्रभावना

सत्य की आस्था या सत्य के प्रति होने वाली रुचि की पहचान सम्यग् दर्शन के रूप में होती है। सम्यग्दर्शन को निर्मलतम बनाए रखने के लिए आठ प्रकार के आचार का निरूपण किया गया है।

निःशंकिता

शंका का अर्थ है सन्देह और भय। जिनभाषित तत्त्व के प्रति सन्देह

अथवा इहलोकभय, परलोकभय आदि सात प्रकार के भय से होने वाली व्यथा का नाम शंका है। शंका का अभाव निःशंकिता है। इससे सत्य के प्रति निश्चित आस्था होती है। सम्यग्दृष्टि व्यक्ति असंदिग्ध और अभय होता है।

निष्कांक्षिता

एकान्तवादी दर्शनों की इच्छा का नाम कांक्षा है। इसका दूसरा अर्थ है धर्माचरण द्वारा सुख-समृद्धि पाने की इच्छा। ऐसी इच्छा का उत्पन्न न होना निष्कांक्षिता है। इससे मिथ्या विचार के स्वीकार में अरुचि रहती है।

निर्विचिकित्सा

धर्म के फल में सन्देह अथवा घृणा और जुगुप्सा का नाम विचिकित्सा है। यहां घृणा का सम्बन्ध धर्म के प्रति होने वाली ग्लानि से है। निर्विचित्सा से धर्म के फल में विश्वास जमता है।

अमूढ़दृष्टि

मूढ़ता तीन प्रकार की होती है—लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता और पाषण्ड-मूढ़ता। नदी स्नान आदि में धार्मिक विश्वास लोकमूढ़ता का प्रतीक है। रागद्वेष वाले देवों में धार्मिक दृष्टि से इष्टबुद्धि देवमूढ़ता का प्रतीक है। हिंसा अदि में प्रवृत्त साधुओं में गुरुत्व की बुद्धि पाषण्ड-मूढ़ता का प्रतीक है।

एकान्तवादियों की विभूति देखकर मुग्ध होना, मिथ्यादृष्टि की प्रशंसा करना, उनसे परिचय करना आदि सभी वृत्तियां मूढ़ता के अन्तर्गत हैं। इन सबसे दूर रहना अमूढ़दृष्टि का लक्षण है।

उपबृंहण

सम्यक् दर्शन की पुष्टि का नाम उपबृंहण है। इसके द्वारा सद्गुणों को प्रोत्साहन दिया जाता है। इसके स्थान पर कहीं-कहीं उपगूहन शब्द का प्रयोग भी होता है। इसका अर्थ है अपने गुणों का अथवा प्रमादवश हुए किसी के दोषों का गोपन करना।

स्थिरीकरण

धर्म मार्ग या न्याय मार्ग से विचलित व्यक्तियों को हेतु, दृष्टान्त आदि से समझाकर पुनः धर्म और न्याय के मार्ग में स्थिर करना। इसे स्थिरीकरण या स्थितिकरण भी कहा जाता है।

वात्सल्य

मोक्ष के साधनों और साधर्मिकों के प्रति वत्सल भाव रखना। साधर्मिक साधुओं को आहार, वस्त्र आदि देना तथा गुरु, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान आदि की विशेष सेवा करना।

प्रभावना

धर्म-तीर्थ की उन्नति के लिए प्रयत्न करना, सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र से अपनी आत्मा को प्रभावित करना, जिन शासन की महिमा बढ़ाना आदि प्रभावना के अंग हैं।

सम्यक्त्व के पांच अतिचारों का वर्जन करने से और आठ आचारों का पालन करने से सम्यक् दर्शन पुष्ट होता है।

१९. चारित्र के आठ आचार हैं—

पांच समिति—

१. ईर्या समिति
२. भाषा समिति
३. एषणा समिति
४. आदाननिक्षेप समिति
५. उत्सर्ग समिति

तीन गुप्ति—

६. मनोगुप्ति
७. वाक्गुप्ति
८. कायगुप्ति

चारित्र का अर्थ है संयम। सब प्रकार की सपाप प्रवृत्तियों का परित्याग करने वाला व्यक्ति संयमी या चारित्रवान् होता है। चारित्र का पालन करने वाला मुनि कहलाता है। चारित्र धर्म की मूलभूत आचार-संहिता है 'महाव्रत'। मुनि शरीरधारी प्राणी होता है। जब तक शरीर है, तब तक प्रवृत्ति होती रहती है। जहां प्रवृत्ति है, क्या

अथवा इहलोकभय, परलोकभय आदि सात प्रकार के भय से होने वाली व्यथा का नाम शंका है। शंका का अभाव निःशंकिता है। इससे सत्य के प्रति निश्चित आस्था होती है। सम्यग्दृष्टि व्यक्ति असंदिग्ध और अभय होता है।

निष्कांक्षिता

एकान्तवादी दर्शनों की इच्छा का नाम कांक्षा है। इसका दूसरा अर्थ है धर्माचरण द्वारा सुख-समृद्धि पाने की इच्छा। ऐसी इच्छा का उत्पन्न न होना निष्कांक्षिता है। इससे मिथ्या विचार के स्वीकार में अरुचि रहती है।

निर्विचिकित्सा

धर्म के फल में सन्देह अथवा घृणा और जुगुप्सा का नाम विचिकित्सा है। यहां घृणा का सम्बन्ध धर्म के प्रति होने वाली ग्लानि से है। निर्विचित्सा से धर्म के फल में विश्वास जमता है।

अमूढ़दृष्टि

मूढ़ता तीन प्रकार की होती है—लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता और पाषण्ड-मूढ़ता। नदी स्नान आदि में धार्मिक विश्वास लोकमूढ़ता का प्रतीक है। रागद्वेष वाले देवों में धार्मिक दृष्टि से इष्टबुद्धि देवमूढ़ता का प्रतीक है। हिंसा अदि में प्रवृत्त साधुओं में गुरुत्व की बुद्धि पाषण्ड-मूढ़ता का प्रतीक है।

एकान्तवादियों की विभूति देखकर मुग्ध होना, मिथ्यादृष्टि की प्रशंसा करना, उनसे परिचय करना आदि सभी वृत्तियां मूढ़ता के अन्तर्गत हैं। इन सबसे दूर रहना अमूढ़दृष्टि का लक्षण है।

उपबृंहण

सम्यक् दर्शन की पुष्टि का नाम उपबृंहण है। इसके द्वारा सद्गुणों को प्रोत्साहन दिया जाता है। इसके स्थान पर कहीं-कहीं उपगूहन शब्द का प्रयोग भी होता है। इसका अर्थ है अपने गुणों का अथवा प्रमादवश हुए किसी के दोषों का गोपन करना।

स्थिरीकरण

धर्म मार्ग या न्याय मार्ग से विचलित व्यक्तियों को हेतु, दृष्टान्त आदि से समझाकर पुनः धर्म और न्याय के मार्ग में स्थिर करना। इसे स्थिरीकरण या स्थितिकरण भी कहा जाता है।

वात्सल्य

मोक्ष के साधनों और साधर्मिकों के प्रति वत्सल भाव रखना। साधर्मिक साधुओं को आहार, वस्त्र आदि देना तथा गुरु, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान आदि की विशेष सेवा करना।

प्रभावना

धर्म-तीर्थ की उन्नति के लिए प्रयत्न करना, सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र से अपनी आत्मा को प्रभावित करना, जिन शासन की महिमा बढ़ाना आदि प्रभावना के अंग हैं।

सम्यक्त्व के पांच अतिचारों का वर्जन करने से और आठ आचारों का पालन करने से सम्यक् दर्शन पुष्ट होता है।

१९. **चारित्र के आठ आचार हैं—**

पांच समिति—

१. **ईर्या समिति**
२. **भाषा समिति**
३. **एषणा समिति**
४. **आदाननिक्षेप समिति**
५. **उत्सर्ग समिति**

तीन गुप्ति—

६. **मनोगुप्ति**
७. **वाक्गुप्ति**
८. **कायगुप्ति**

चारित्र का अर्थ है संयम। सब प्रकार की सपाप प्रवृत्तियों का परित्याग करने वाला व्यक्ति संयमी या चारित्रवान् होता है। चारित्र का पालन करने वाला मुनि कहलाता है। चारित्र धर्म की मूलभूत आचार-संहिता है 'महाव्रत'। मुनि शरीरधारी प्राणी होता है। जब तक शरीर है, तब तक प्रवृत्ति होती रहती है। जहां प्रवृत्ति है, क्या

वहां हिंसा, असत्य आदि से बचना संभव है ? यदि संभव नहीं तो फिर चारित्र की अनुपालना या साधुत्व की कल्पना कहां तक सार्थक है? इस प्रश्न के समाधान में तीर्थंकरों ने चारित्र के साथ समिति और गुप्ति की अनुपालना का निर्देश दिया है। समिति और गुप्ति से संवलित प्रवृत्ति में हिंसा नहीं होती। इसलिए सहायक सामग्री के रूप में समिति और गुप्ति की आराधना को भी आवश्यक माना गया है। उन्नीसवें बोल में इन्हीं का उल्लेख है।

समिति का अर्थ है संयत प्रवृत्ति, संयममय प्रवृत्ति। वे पांच हैं—

- ईर्या समिति—संयम पूर्वक चलना
- भाषा समिति—संयम से बोलना
- एषणा समिति—संयमी शरीर के निर्वाह हेतु भोजन, पानी आदि की संयमपूर्वक एषणा।
- आदाननिक्षेप समिति—धर्मोपकरणों का संयमपूर्वक उपयोग।
- उत्सर्ग समिति—मल-मूत्र आदि का विधिवत् विसर्जन।

इन पांचों समितियों से महाव्रतों की अनुपालना सहज हो जाती है। इसलिए महाव्रत के साथ समिति का योग किया गया है। जहां समिति है, वहां गुप्ति का होना जरूरी है। गुप्ति के साथ समिति हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती। किन्तु समिति, गुप्ति के बिना नहीं होती। इस दृष्टि से तीन गुप्तियां बताई गयी हैं।

मनोगुप्ति

मन का सर्वथा निग्रह अथवा मन की असंयत प्रवृत्ति का निग्रह मनोगुप्ति है। मन का पूरा निग्रह अयोग संवर की स्थिति में होता है। आंशिक निग्रह अयोग संवर का अंश है। असंयत प्रवृत्ति का निग्रह व्रत संवर में परिगणित होता है। किन्तु संयत प्रवृत्ति का निग्रह अयोग संवर का अंश बन जाता है।

वाक्गुप्ति

वचन का सर्वथा निग्रह अथवा असंयत वाणी का निग्रह।

कायगुप्ति

शरीर की स्थूल और सूक्ष्म सब प्रवृत्तियों और परिस्पन्दनों का निग्रह अथवा शरीर की सपाप प्रवृत्ति का निग्रह। चारित्र धर्म या पांच महाव्रत के साथ पांच समिति और तीन गुप्ति का योग करने से यह संख्या तेरह हो जाती है। आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ की परिभाषा देते हुए इसका प्रयोग किया है। उन्होंने कहा—'हे प्रभो! यह तेरापंथ' यह व्याख्या हमें इष्ट है। इसके साथ-साथ उपर्युक्त तेरह नियम भी तेरापंथ की एक व्याख्या है। इन तेरह नियमों का पालन करने वाला तेरापंथी साधु कहलाता है। जहां महाव्रतों का पालन जरूरी है, वहां अनुशासन का पालन स्वतः प्राप्त है। जिस व्यक्ति पर अपना अनुशासन नहीं होता, संघ का अनुशासन नहीं होता, वह महाव्रत और समिति-गुप्ति का भी पालन नहीं कर सकता।

२०. स्वाध्याय के पांच प्रकार हैं—

१. वाचना
२. प्रच्छना
३. परिवर्तना
४. अनुप्रेक्षा
५. धर्मकथा

स्वाध्याय का अर्थ है श्रुत—अध्यात्मशास्त्र का अध्ययन। स्वाध्याय के पांच प्रकार हैं। पांच प्रकारों में पहला प्रकार है वाचना। वाचना का सम्बन्ध अध्ययन और अध्यापन के साथ है। अध्ययन-अध्यापन का माध्यम ग्रन्थ भी हो सकते हैं और आत्मज्ञान भी। मूल बात इतनी ही है कि वही अध्ययन स्वाध्याय का अंग बनता है, जो व्यक्ति को आत्मविश्लेषण करवा सके, पहचान दे सके।

प्रच्छना का अर्थ है पूछना। इसकी पृष्ठभूमि में जिज्ञासा का होना जरूरी है। जिज्ञासु भाव से उपजे हुए प्रश्न ही व्यक्ति को सत्य तक ले जा सकते हैं। जिज्ञासु को सत्य की राह पकड़ा सकें, वे प्रश्न ही स्वाध्याय के परिवार में सम्मिलित होने की अर्हता रखते हैं।

परिवर्तना का अर्थ है दोहराना, एक ही पथ से बार-बार गुजरना। ज्ञान चेतना के विकास में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस उपक्रम का उपयोग नहीं करने वाले अपने कृत पुरुषार्थ को भी विफल कर लेते हैं।

अनुप्रेक्षा का सम्बन्ध ध्यान और स्वाध्याय दोनों के साथ है। यह चिन्तन की भूमिका है। जैन-परम्परा में इसके लिए भावना शब्द का प्रयोग भी होता है। अनित्य, अशरण आदि भावनाओं से भावित चित्त में जिस शान्ति और समाधि का अवतरण होता है, वह स्वाध्याय की महत्ता का प्रतीक है।

धर्मकथा सब प्रकार की धर्म चर्चा और धर्मोपदेश की सूचना देने वाला शब्द है। धर्मोपदेशक प्रवचन में केवल इधर-उधर की बातें कहकर अपने कर्त्तव्य को पूरा नहीं कर सकता। गम्भीर स्वाध्याय और मनन के बाद ही वह अपने श्रोताओं का पथदर्शन कर सकता है। इस दृष्टि से स्वाध्याय के पांचों प्रकार साधना में सहायक सिद्ध होते हैं।

२१. ध्यान के चार प्रकार हैं—

१. आर्त्त ३. धर्म्य

२. रौद्र ४. शुक्ल

किसी एक आलम्बन पर मन को केन्द्रित करना अथवा मन, वाणी और शरीर के निरोध करने को ध्यान कहा जाता है। इसके चार प्रकारों में प्रथम दो ध्यान अशुभ हैं और शेष दो शुभ हैं। निर्जरा तत्त्व में जिस ध्यान का उल्लेख है, उसका सम्बन्ध शुभ ध्यान से है। चूंकि अशुभ ध्यान में भी मन का एकाग्र सन्निवेश होता है, किन्तु चेतना के विकास में उसका कोई योग नहीं होता, इस दृष्टि से निर्जरा के भेदों में आर्त्त ध्यान और रौद्रध्यान का ग्रहण नहीं हो सकता। यहां सामान्य रूप से ध्यान की व्याख्या में शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के ध्यान का समावेश कर दिया है।

आर्त्तध्यान

प्रिय व्यक्ति या वस्तु के वियोग और अप्रिय व्यक्ति या वस्तु के संयोग से होने वाली चैतसिक विकलता की स्थिति में जो चिन्तन होता है, वह आर्त्तध्यान कहलाता है। वेदनाजनित आतुरता और विषय-सुख की प्राप्ति के लिए किया जाने वाला दृढ़ संकल्प भी इसी ध्यान का अंग है। व्याकुलता, छटपटाहट और अधीरता आर्त्तध्यान की

निष्पत्तियां हैं।

रौद्रध्यान

भौतिक विषयों की सुरक्षा के लिए तथा हिंसा, असत्य, चोरी, क्रूरता आदि दुष्प्रवृत्तियों से अनुबन्धित चिन्तन का नाम रौद्रध्यान है। इस ध्यान से प्रभावित व्यक्ति ध्वंसात्मक भावों का अर्जन करता है और उनकी प्रेरणा से अवांछित कार्यों में प्रवृत्त होता है।

धर्म्यध्यान

जिस वस्तु का जो धर्म होता है, उसे यथार्थ रूप में जानने अथवा सत्य की खोज के लिए होने वाले चिन्तन का नाम धर्म्यध्यान है। इस ध्यान की साधना करने वाला साधक आगमों में प्रतिपादित तत्त्वों को ध्येय बनाकर उनमें एकाग्र होता है। राग-द्वेष आदि दोषों की उत्पत्ति और क्षय के हेतुओं को ध्येय बनाकर उनमें एकाग्र होता है। द्रव्य की विविध आकृतियों और पर्यायों को ध्येय बनाकर उनमें एकाग्र होता है तथा कर्म के फल को ध्येय बनाकर उसमें एकाग्र होता है।

शुक्लध्यान

शुक्लध्यान का अर्थ है परिपूर्ण समाधि। यह चिन्तन की निर्मलता का प्रकृष्ट रूप है। इससे अन्तर्मुखता की अग्रिम भूमिकाएं प्रशस्त हो जाती हैं। इस स्थिति में भौतिक आकांक्षाएं छूटती हैं और आत्मिक अनुभूति के द्वार खुलते हैं। शुक्लध्यान की चार अवस्थाएं हैं। चौथी अवस्था में पहुंचने के बाद जीव सांसारिक बन्धनों से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

२२. धर्म की पहचान के पांच प्रकार हैं—

१. त्याग धर्म है, भोग धर्म नहीं है।
२. आज्ञा धर्म है, अनाज्ञा धर्म नहीं है।
३. संयम धर्म है, असंयम धर्म नहीं है।
४. उपदेश धर्म है, बलप्रयोग धर्म नहीं है।
५. अनमोल धर्म है, मूल्य से प्राप्त होने वाला धर्म नहीं है।

धर्म मनुष्य की आस्था का विशिष्ट केन्द्र है। इसके आधार पर जीवन

चलता है और कठिन समय में आलम्बन मिलता है। धर्म क्या है? इस प्रश्न को कई दृष्टियों से देखा गया है और हर दृष्टि की पृष्ठभूमि में रही हुई विवक्षा के आधार पर उसकी पहचान कराई गई है। आचार, व्यवस्था, परम्परा रीतिरिवाज आदि अनेक अर्थों में धर्म शब्द का प्रयोग और उसकी व्यवस्था की गई है। इस बोल में केवल शुद्ध आध्यात्मिक धर्म को सामने रखकर चिन्तन किया गया है। आध्यात्मिक धर्म, जो कि एकमात्र आत्मशुद्धि का साधन है, लोकधर्म से भिन्न है। आचार्य भिक्षु ने उसको जो सीधी-सपाट किन्तु सार्थक परिभाषाएं दी हैं, वे जितनी यथार्थ हैं, उतनी ही सरल हैं। धर्म की दार्शनिक गुत्थियों में उलझाने के स्थान पर इतनी सीधी अभिव्यक्ति देना आचार्य भिक्षु की सूक्ष्मग्राही मेधा का प्रतीक है।

प्रस्तुत बोल में लोकोत्तर धर्म की पहचान के पांच लक्षण बतलाए गए हैं—

आज्ञा धर्म है

जिस आचरण की अर्हत्, तीर्थंकर, वीतराग आज्ञा देते हैं, वह आचरण धर्म है। जिस आचरण के लिए भगवान को आज्ञा नहीं है, वह धर्म नहीं है। इस बात को यों भी कहा जा सकता है कि जिस काम को करने में अर्हत् की आज्ञा का उल्लंघन होता है, वह धर्म नहीं है।

त्याग धर्म है

सपाप आचरणों का त्याग धर्म है। भोग के साथ धर्म का कोई अनुबन्ध नहीं है। त्याग अर्हत् की आज्ञा में है, इसलिए वही धर्म है।

संयम धर्म है

इन्द्रियों, मन और वृत्तियों का जितना-जितना संयम साधा जाता है अथवा जितना व्रत होता है, वह धर्म है। असंयम या अव्रत धर्म नहीं है। क्योंकि असंयम (अव्रत) के लिए भगवान की आज्ञा नहीं है।

उपदेश धर्म है

धर्म का सम्बन्ध हृदय-परिवर्तन से है। जहां बलप्रयोग है, वहां धर्म

नहीं हो सकता। उपदेश के द्वारा अथवा साधना के प्रयोगों द्वारा ग्रंथियों के स्राव बदलने से अन्तःकरण में होने वाला परिवर्तन धर्म की सही पहचान बन सकता है।

जो अमूल्य है, वह धर्म है

धर्म अमूल्य तत्त्व है। उसे कभी अर्थ या किसी अन्य साधन से खरीदा नहीं जा सकता। जो खरीदा जाता है, वह धर्म नहीं हो सकता।

निष्कर्ष की भाषा में इतना ही जानना जरूरी है कि अनाज्ञा, भोग, असंयम, बलप्रयोग और मूल्य से प्राप्त होने वाला तत्त्व धर्म नहीं है। धर्म वही है, जिसमें अर्हत् की आज्ञा होती है। धर्म की यह व्यवस्था मौलिक है और अनेक भ्रान्त धारणाओं को दूर करने वाली है।

२३. धर्म के दो प्रकार हैं—

१. लौकिक धर्म २. लोकोत्तर धर्म

लौकिक धर्म के अनेक प्रकार हैं—

जैसे परम्परा, रीतिरिवाज आदि।

लोकोत्तर धर्म के दो प्रकार हैं—

१. श्रुत धर्म २. चारित्र धर्म

अथवा

१. संवर धर्म २. निर्जरा धर्म

धर्म शब्द अनेक अर्थों का वाचक है। जिस प्रसंग में जो अर्थ विवक्षित होता है, उसे प्रमुख मानकर अन्य अर्थों को गौण कर दिया जाता है। तेईसवें बोल में धर्म के दो रूप—लौकिक धर्म और लोकोत्तर धर्म को आधार मानकर चर्चा की गई है। लौकिक धर्म के अनेक प्रकार हैं। देश, काल और परिस्थिति के अनुसार धर्म के स्वरूप और प्रकारों में परिवर्तन होता रहता है। किसी भी राष्ट्र या समाज की जितनी परम्पराएं, जितने रीतिरिवाज, जितने व्यवहार हैं, वे सब लौकिक धर्म के अन्तर्गत आते हैं।

लोकोत्तर धर्म का अर्थ है—संसार की रूढ़ धारणाओं, परम्पराओं

और अन्धविश्वासों से मुक्त एक ऐसी प्रक्रिया, जिससे व्यक्ति सत्य के निकट पहुंचता है, अपनी आत्मा की पहचान करता है और बन्धन-मुक्ति की दिशा में प्रस्थित होता है। प्रस्तुत बोल में लोकोत्तर धर्म के दो-दो प्रकार बतलाए गए हैं।

धर्म है आत्मशुद्धि के लिए किया जाने वाला पुरुषार्थ। शुद्ध उद्देश्य और शुद्ध साधन का जो फलित होता है, वही धर्म हो सकता है। उद्देश्य सही है, पर साधन शुद्ध नहीं है तो उस प्रवृत्ति के आगे प्रश्न-चिह्न लग जाता है। इस दृष्टि से यहां श्रुत और चारित्र को ही धर्म में अन्तर्गर्भित किया गया है। श्रुत शब्द से ज्ञान और दर्शन दोनों का ग्रहण होता है। क्योंकि श्रद्धा के बिना ज्ञान का विकास भी संभव नहीं है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में वैज्ञानिक को विशिष्ट ज्ञानी माना जाता है। एक वैज्ञानिक जितना श्रद्धालु होता है, कुछ धार्मिक व्यक्ति भी शायद उतने श्रद्धाशील नहीं होते। श्रद्धा के अभाव में किसी एक प्रवृत्ति में जीवन खपाने का मनोभाव बन ही नहीं सकता। श्रद्धाहीन व्यक्ति कभी सुखी और संतुष्ट नहीं हो सकता। इस दृष्टि से श्रद्धा को धर्म का प्रथम द्वार माना जा सकता है।

श्रद्धा और ज्ञान की उपलब्धि होने पर भी जब तक चारित्र धर्म का विकास नहीं होता, धर्म का रूप सामने नहीं आता। चारित्र का सम्बन्ध आचरण से है। जीवन शुद्धिमूलक जितना आचरण है, वह सब धर्म है। इसमें व्रत, नियम, त्याग, तप, अनुष्ठान आदि बाह्य क्रियाओं के साथ समता, सहिष्णुता आदि आन्तरिक गुणों का भी समावेश हो जाता है।

संवर और निर्जरा जैन साधना पद्धति के मूल आधार हैं। संवर का अर्थ है निरोध और निर्जरा का अर्थ है क्षरण। आत्मा और कर्म-पुद्गलों का सम्बन्ध अनादिकालीन है। क्षण-क्षण में कर्मों का बन्धन, वेदन और क्षरण होता रहता है। जब तक आगन्तुक कर्मों को रोका नहीं जाएगा, तब तक जीव कर्म मुक्त होकर शुद्ध स्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकेगा। आगन्तुक कर्मों को रोकने का नाम ही संवर है। नए कर्मों का मार्ग अवरुद्ध हो जाने पर भी जब तक पूर्व संचित कर्म क्षीण नहीं होते, तब तक जीव का स्वरूप प्रकट नहीं हो सकता। इसलिए निर्जरा धर्म

का भी वहुत महत्त्व है। ध्यान, स्वाध्याय, तपस्या, पदयात्रा, केश-लुंचन आदि सभी प्रवृत्तियों का समावेश निर्जरा धर्म में हो जाता है। फिर भी वह गौण तत्त्व है। प्रमुख तत्त्व है संवर। संवर-संवलित निर्जरा ही व्यक्ति को सिद्ध, वुद्ध या मुक्त वना सकती है।

निर्जरा धर्म संसार के सव जीवों के हो सकता है। क्योंकि यह एक व्यापक तत्त्व है। अभव्य और मिथ्यात्वी व्यक्ति भी निर्जरा धर्म की साधना कर सकते हैं। किन्तु संवर धर्म की साधना सबके वश की वात नहीं है। आत्म-विकास की चौदह भूमिकाओं में पांचवीं भूमिका में संवर धर्म का स्पर्श होता है। उसके वाद वह उत्तरोत्तर विकसित होता हुआ व्यक्ति को पूर्णता तक पहुंचा देता है।

२४. धर्म के दो प्रकार हैं—

१. अनगार धर्म　　　२. अगार धर्म

अनगार धर्म (मुनि धर्म) के पांच प्रकार हैं—

१. अहिंसा महाव्रत
२. सत्य महाव्रत
३. अचौर्य महाव्रत
४. ब्रह्मचर्य महाव्रत
५. अपरिग्रह महाव्रत

अगार धर्म (श्रावक धर्म) के वारह प्रकार हैं—

(पांच अणुव्रत)

१. अहिंसा अणुव्रत
२. सत्य अणुव्रत
३. अचौर्य अणुव्रत
४. व्रह्मचर्य अणुव्रत
५. अपरिग्रह अणुव्रत

(सात शिक्षाव्रत)

१. दिग् परिमाण व्रत
२. भोगोपभोगपरिमाण व्रत
३. अनर्थदण्डविरमण व्रत
४. सामायिक व्रत
५. देशावकाशिक व्रत
६. पौषधोपवास व्रत
७. यथासंविभाग व्रत

तेईसवें वोल में लौकिक और लोकोत्तर धर्म की चर्चा की गई। वहां लोकोत्तर धर्म में श्रुत, चारित्र तथा संवर, निर्जरा का उल्लेख है।

प्रस्तुत बोल में क्षमता के आधार पर धर्म को दो वर्गों में बांटा गया है। अनगार धर्म का पालन गृहत्यागी मुनि ही कर सकते हैं। अगार का अर्थ है घर। जो अगार यानी घर छोड़कर अनगार बन जाते हैं, उसके लिए पांच महाव्रत रूप धर्म का विधान है।

महाव्रत

भारतीय जीवन पद्धति में 'व्रत' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिस व्यक्ति के जीवन में व्रत होता है, वह धार्मिक कहलाता है। व्रत के अभाव में धार्मिकता के आगे एक प्रश्नचिह्न उपस्थित हो जाता है। जैनधर्म भारतीय धर्म और दर्शन के संदर्भ में एक प्रतिनिधि धर्म है। इसमें व्रत का सर्वाधिक मूल्य है। आचरण की क्षमता के आधार पर व्रत को दो भागों में विभक्त किया गया है—महाव्रत और अणुव्रत। जिस व्रत का पालन मन, वचन और काय से कृत, कारित और अनुमति-वर्जन के साथ होता है, वह महाव्रत कहलाता है। जिस व्रत की अनुपालना में उपर्युक्त त्रिकरण, त्रियोग का अनुबन्ध न हो जिस व्रत की कुछ सीमाएं हों, वह अणुव्रत कहलाता है। महाव्रत का पालन करने वाला साधु कहलाता है। महाव्रत संख्या में पांच हैं।

पांच महाव्रतों में पहला महाव्रत है 'अहिंसा'। इसका दूसरा नाम है प्राणातिपात-विरमण। सब प्रकार की हिंसा से विरत होना अहिंसा महाव्रत है। इस परिभाषा में हिंसा का संबंध प्राण-वियोजन से रखा गया है। थोड़ी गहराई से चिन्तन किया जाए तो हिंसा का संबंध है व्यक्ति के असंयम से। संयत प्रवृत्ति से यदि किसी जीव का वध भी हो जाए तो उसे वास्तव में हिंसा नहीं माना जाता। प्रवृत्ति संयत नहीं है तो प्राणी का वध न होने पर भी हिंसा है। इस दृष्टि से अहिंसा की परिभाषा है—'*सर्वभूतेषु संयमः अहिंसा*'—'*प्राणी मात्र के प्रति* व्यक्ति का अपना संयम है, वह अहिंसा है।'

सत्य एक मानवीय गुण है। इससे विमुख होने अर्थात् असत्य-संभाषण के चार कारण हैं—क्रोध, लोभ, भय और हास्य। इन चारों कारणों से बचने वाला असत्य-भाषण से अपने आप बच जाता है। यह सत्य का नकारात्मक पक्ष है। विधेयक दृष्टि से विचार किया जाए तो सत्य के चार रूप हैं—शरीर की सरलता, मन की सरलता, वचन की

सरलता और कथनी-करनी की अविसंवादिता (समानता)। सत्य महाव्रत का आचरण इसी भूमिका पर हो सकता है।

चोरी एक सामाजिक और राष्ट्रीय अपराध है। इस अपराध से बचने वाला किसी प्रकार की अदत्त वस्तु, फिर चाहे वह एक तिनका ही क्यों न हो, का ग्रहण नहीं करता। सकारात्मक भाषा में कहा जाए तो पूर्ण प्रामाणिकता का नाम अचौर्य महाव्रत है।

ब्रह्मचर्य जीवन का विशेष गुण है। गृहस्थ जीवन में इसकी कुछ सीमाएं हैं। विवाह संस्कार इन सीमाओं की ही एक व्यवस्था है। इस व्यवस्था के अनुसार विवाहित स्त्री-पुरुष के अतिरिक्त सभी स्त्री-पुरुषों के साथ संभोग का वर्जन करना जरूरी है। यह अणुव्रत है। ब्रह्मचर्य महाव्रत में विवाह का प्रसंग ही उपस्थित नहीं होता। इसलिए वहां सम्पूर्ण रूप से सम्भोग का वर्जन विहित है। गहराई से विचार किया जाए तो पांचों इन्द्रियों और मन को विषयासक्ति से सर्वथा निवृत्त रखना ब्रह्मचर्य है। श्रुति-संयम, स्मृति-संयम, खाद्य-संयम, कल्पना-संयम आदि विषयासक्ति वर्जन के ही फलित हैं। अथवा यों भी कहा जा सकता है कि श्रुति, स्मृति आदि का संयम करने से विषयासक्ति स्वयं छूट जाती है।

परिग्रह के दो रूप हैं—वस्तुसंग्रह और मूर्च्छा। संग्रह और मूर्च्छा का अभाव अपरिग्रह महाव्रत है। मुनि के लिए धर्मोपकरण के अतिरिक्त वस्तु मात्र का संग्रह सर्वथा वर्जित है। मूर्च्छा का जहां तक प्रश्न है, वह न धर्मोपकरण के प्रति होनी चाहिए और न किसी अन्य वस्तु पर। शास्त्रों में तो यहां तक कहा गया है—'अवि अप्पणो वि देहम्मि नायरंति ममाइयं'—मुनि अपने शरीर पर भी ममत्व न करे। अपरिग्रह महाव्रत की पूर्णता इसी में है। ये पांचों महाव्रत मुनि के लिए अनिवार्य रूप से समाचरणीय हैं।

जो व्यक्ति मुनि नहीं बन सकते, महाव्रतों का पालन नहीं कर सकते, उनके लिए अगार धर्म का अर्थात् श्रावक धर्म का रास्ता खुला है। श्रावक धर्म के बारह प्रकार हैं। उनको दो या तीन वर्गों में बांटा जा सकता है। प्रथम वर्गीकरण में पांच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत का रूप प्रचलित है। दूसरे वर्गीकरण में उसके तीन विभाग किए गए हैं—पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत। वर्गीकरण का

कोई भी क्रम हो; मूल बात इतनी ही है कि अगार धर्म के बारह प्रकार हैं।

अणुव्रत

जैन दर्शन के अनुसार मुनि की तरह गृहस्थ भी धर्म की आराधना कर सकता है। उसकी आराधना आंशिक होती है और मुनि की पूर्ण। इसलिए मुनि के द्वारा स्वीकृत संकल्प महाव्रत कहलाते हैं और गृहस्थ के द्वारा स्वीकृत संकल्प अणुव्रत। महाव्रत की भांति अणुव्रत भी पांच हैं।

अहिंसा अणुव्रत

चलते-फिरते निरपराध प्राणियों को जानबूझकर मारने का त्याग करना अहिंसा अणुव्रत है।

सत्य अणुव्रत

किसी निर्दोष प्राणी की हत्या हो जाए, वैसे असत्य का त्याग करना सत्य अणुव्रत है।

अस्तेय अणुव्रत

डाका डालकर, ताला तोड़कर बड़ी चोरी करने का त्याग करना अस्तेय अणुव्रत है।

ब्रह्मचर्य अणुव्रत

वेश्यागमन, पर-स्त्रीगमन (पर-पुरुषगमन) का त्याग करना एवं अपनी स्त्री (पुरुष) के साथ संभोग की सीमा करना ब्रह्मचर्य अणुव्रत है।

अपरिग्रह अणुव्रत

सोना, चांदी, मकान धन, धान्य आदि परिग्रह के संचय की मर्यादा करना अपरिग्रह अणुव्रत है।

शिक्षाव्रत

उपर्युक्त पांच व्रतों की पुष्टि के लिए सात शिक्षाव्रत का पालन किया जाता है। इन सात शिक्षाव्रतों में प्रथम तीन व्रत—दिग्परिमाण, भोगोपभोगपरिमाण और अनर्थदंडविरमण—ये स्वीकृत व्रतों में गुण का आधान करने के कारण गुणव्रत कहलाते हैं।

दिग्परिमाण यातायात से सम्बन्धित व्रत है। श्रावक धर्म का पालन करने वाला छहों दिशाओं में निरंकुश यातायात नहीं करता। जहां यातायात ही नहीं होता, वहां हिंसा, असत्य आदि सपाप प्रवृत्तियों से भी सहजता से बचा जा सकता है। दिशाओं में गमनागमन की सीमा न हो तो वहां होने वाले असंयम का भी निरोध नहीं होता। इसके साथ-साथ दिग्व्रत स्वीकार करने वाला श्रावक यातायात सम्बन्धी अव्यवस्थाओं और दुर्घटनाओं से भी बच सकता है।

दूसरा अणुव्रत है भोगोपभोग-परिमाण। मनुष्य की आकांक्षा असीम होती है और आवश्यकता सीमित। इस गुणव्रत का पालन करने वाला श्रावक आकांक्षाओं के चक्रव्यूह से निकल अपनी आवश्यकताओं को और अधिक सीमित करने का लक्ष्य रखता है। किसी राष्ट्र के सब नागरिक इस व्रत को स्वीकार कर लें तो अभाव और अतिभावजनित दुर्व्यवस्थाओं का अन्त हो सकता है। इस व्रत की भावना से समाजवाद सहजरूप से फलित हो जाता है। इसमें वस्तु-संयम और व्यवसाय-संयम दोनों का समावेश होता है।

तीसरा गुणव्रत है अनर्थदण्डविरमण। इसके दो वाच्यार्थ हैं—निष्प्रयोजन हिंसा से दूर होना और अनर्थकारी पाप से दूर होना। एक श्रावक पर यह दायित्व आता है कि वह बिना प्रयोजन कोई गलत काम करे ही नहीं। प्रयोजनवश कोई सपाप आचरण करना पड़े तो उसमें भी उस प्रवृत्ति से अपना बचाव करे जो किसी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र के लिए अनिष्ट अथवा अहित का सम्पादन करने वाली हो।

अन्तिम चार व्रत शिक्षाव्रत के रूप में प्रसिद्ध हैं। अणुव्रतों की साधना जीवन भर के लिए स्वीकृत की जा सकती है। किन्तु शिक्षाव्रत प्रायोगिक व्रत हैं। इनका अभ्यास बार-बार किया जाता है। इस दष्टि से ये सावधिक होते हैं। शिक्षाव्रत चार हैं—सामायिक, देशा-

वकाशिक, पौषधोपवास और यथासंविभाग।

एक मुहूर्त्त (४८ मिनट) के लिए समता के अभ्यास का प्रयोग सामायिक व्रत है। इसका अभ्यास प्रतिदिन एक बार या अधिक बार भी किया जा सकता है।

व्रत की सीमाओं को अधिक संक्षिप्त करने के लिए छोटे-बड़े सब प्रकार के प्रत्याख्यान करने का अवकाश जहां हो, उस व्रत को देशावकाशिक व्रत कहा गया है। परिपूर्ण पौषध व्रत से पहले के सारे प्रत्याख्यान इस व्रत के अन्तर्गत आते हैं।

एक दिन और रात के लिए सावद्य कामों का प्रत्याख्यान करना, उपवासपूर्वक विशेष धर्म जागरण करना प्रतिपूर्ण पौषधव्रत है।

अपनी खान-पान आदि वस्तुओं में से संयमी पुरुषों के लिए विभाग करके देना यथासंविभाग व्रत का तात्पर्यार्थ है। इस व्रत का दूसरा नाम अतिथिसंविभाग भी है। जिस साधक के तिथि विशेष में सावद्य योग का त्याग न हो—जीवन पर्यन्त त्याग हो, वह अतिथि कहलाता है। यह शब्द साधु का वाचक है। श्रावक कहीं भी रहकर इस व्रत का अभ्यास कर सकता है। यद्यपि इस व्रत की अनुपालना साधु-साध्वियों की सन्निधि में ही हो सकती है। पर भावना का प्रयोग कभी भी और कहीं भी हो सकता है।

२५. श्रमण धर्म के दस प्रकार हैं—

१. क्षान्ति	६. सत्य
२. मुक्ति	७. संयम
३. आर्जव	८. तप
४. मार्दव	९. त्याग
५. लाघव	१०. ब्रह्मचर्य

पच्चीसवें बोल में दस प्रकार के श्रमण धर्मों का उल्लेख है—धर्म के ये प्रकार साधु के लिए ही हैं, गृहस्थ के लिए नहीं, ऐसी कोई नियामकता नहीं है। एक गृहस्थ भी इन धर्मों की सघन साधना करने का अधिकारी है। फिर भी श्रमण धर्म के रूप में इनका उल्लेख इस बात का प्रतीक है कि साधु बनने वाले को तो इन धर्मों का विकास करना ही है।

क्षान्ति

सहिष्णुता—किसी प्रकार की प्रतिकूल परिस्थिति उपस्थित होने पर उसे सहज भाव से सहन करने, उत्तेजित होने का अवसर आने पर भी शान्त रहने और सामने वाले व्यक्ति की दुर्बलताओं को स्नेह की धारा में विलीन करने की क्षमता।

मुक्ति

निर्लोभता—शरीर और पदार्थ जगत के प्रति अनासक्ति।

आर्जव

सरलता—माया, छलना आदि से उपरति। मन के उस प्रकाश की साधना जहां छिपाव और दुराव स्वयं ही समाप्त हो जाते हैं।

मार्दव

कोमलता—मन, वाणी आदि के कठोर व्यवहार का विसर्जन और करुणा के अजस्र स्रोत का बहाव।

लाघव

हल्कापन—कषाय, उपधि आदि के भार का विसर्जन, स्नायविक मानसिक और बौद्धिक तनाव से मुक्ति।

सत्य

जो तत्त्व जैसा है, उसको उसी रूप में समझना और उसका उसी रूप में कथन करना। आग्रह सत्य में सबसे बड़ी बाधा है। आग्रह अज्ञानजनित हो सकता है, मोहजनित हो सकता है और संस्कारजनित भी हो सकता है।

संयम

इन्द्रिय और मन का संयम। संयम की साधना से मानसिक और भौतिक दोनों प्रकार की समस्याओं का समाधान होता है।

तप

कर्म शरीर को तपाने वाला अनुष्ठान। शारीरिक, मानसिक और

बौद्धिक विकास के भेद से तप कई प्रकार का हो जाता है।

त्याग

संकल्प-शक्ति का विकास, अनुराग के केन्द्र का बदलाव, विषय और उससे होने वाली वासना, आसक्ति को छोड़ने का संकल्प।

ब्रह्मचर्य

इन्द्रिय-संयम, वासना-संयम अथवा आत्म-रमण।

इन दस धर्मों की साधना करने वाला श्रमण ऊर्ध्वारोहण करता हुआ आत्म-विकास की सब भूमिकाओं को पार कर मुक्त हो जाता है।

चतुर्थ वर्ग

१. सत् के तीन लक्षण हैं

१. उत्पाद   २. व्यय   ३. ध्रौव्य

चतुर्थ वर्ग के प्रथम बोल में सत् की चर्चा है। सत् अस्तित्व का प्रतीक है। विश्व में जितने अस्तित्ववान् पदार्थ हैं, वे सब सत् हैं। जड़ और चेतन—दोनों प्रकार के पदार्थों का समावेश सत् में हो जाता है। इस दृष्टि से सत्, पारमार्थिक वस्तु, तत्त्व और पदार्थ एक ही अर्थ के बोधक शब्द हैं। पदार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में सब दार्शनिक एकमत नहीं हैं। कुछ दार्शनिक पदार्थ को अनित्य—परिवर्तनशील मानते हैं और कुछ दार्शनिक उसे नित्य—स्थायी मानते हैं। जैनदर्शन पदार्थ को परिवर्तनशील भी मानता है और स्थायी भी। इस दृष्टि से उसे परिभाषित किया गया है—'उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं सत्' उत्पाद—उत्पन्न होना, व्यय—विनाश होना और ध्रौव्य—स्थायित्व होना। ये तीनों बातें युगपत्—एक साथ जिसमें घटित होती हैं, वही सत् होता है। इसमें उत्पाद और विनाश परिवर्तनशीलता के सूचक हैं तथा ध्रौव्य नित्यता का सूचक है। परिवर्तनशीलता और नित्यता दोनों साथ रहकर ही सत् (पदार्थ) को पूर्णता देते हैं। केवल उत्पाद, केवल व्यय या केवल ध्रौव्य सत् का लक्षण नहीं बन सकता।

प्रश्न हो सकता है कि एक ही पदार्थ में एक साथ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की संगति कैसे बैठ सकती है ? क्योंकि ये तीनों विरोधी तत्त्व हैं। उत्पाद और व्यय के साथ स्थायित्व कैसे हो सकता है और स्थायित्व में उत्पाद तथा व्यय कैसे घटित हो सकते हैं ?

ऊपर-ऊपर से देखने पर यहां विसंगति की प्रतीति होती है, पर सच्चाई यह है कि इनके बिना किसी पदार्थ की संगति हो ही नहीं सकती। उदाहरण के लिए अनेक पदार्थों को उपस्थित किया जा सकता है। जैसे—सोना, दूध, पानी आदि। सोना, दूध और पानी

ध्रुव तत्त्व हैं। सोने से कड़े, कंगन, अंगूठी आदि आभूषण बनाए जाते हैं। यह उत्पाद और विनाश की प्रक्रिया है। दूध मे दही, खीर आदि बनाए जाते हैं। यह भी उत्पाद और विनाश का क्रम है। इसी प्रकार पानी से बर्फ बनती है, भाप बनती है।

इन प्रतीकों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उत्पाद, विनाश और ध्रौव्य साथ-साथ रहते हैं। इसी बात को ध्यान में रखकर भगवान महावीर ने त्रिपदी की प्ररूपणा की—उप्पण्णे इ वा, विगमे इ वा, धुवे इ वा। पदार्थ उत्पन्न भी होता है, विनष्ट भी होता है और स्थिर भी रहता है। जैनधर्म में पदार्थ का लक्षण यही बतलाया गया है। इस आधार पर निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि जिसमें उत्पाद, विनाश और स्थायित्व रहता है, वह सत् है। उत्पाद, विनाश और स्थायित्व के साथ उसका अविनाभावी सम्बन्ध है।

२. वस्तुबोध की चार दृष्टियां हैं—

१. द्रव्य ३. काल

२. क्षेत्र ४. भाव

वस्तुबोध की चार दृष्टियां हैं। हमें किसी भी वस्तु का समग्रता से बोध करना है तो विवेच्यमान चार दृष्टियों का उपयोग करना ही होगा, अन्यथा वस्तुबोध सर्वांगीण न होकर एकांगी हो जाएगा। वे चार दृष्टियां हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव।

द्रव्य—व्यक्ति या मूल वस्तु।

क्षेत्र—स्थान या देश विशेष।

काल—समय—शीतकाल, उष्णकाल आदि।

भाव—वस्तुगत अवस्थाएं।

वस्तुबोध की उपरोक्त चारों दृष्टियों का विशद विवेचन न करके उन्हें कुछ उदाहरणों के माध्यम से सरलता से समझा जा सकता है। प्रथम उदाहरण में हमारी आलोच्य वस्तु है 'घड़ा'। निर्विशेषण रूप में 'घड़ा' इस शब्द का उच्चारण करने से उसका सर्वांगीण बोध नहीं हो पाता। उसी को यदि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की कसौटी पर कस लिया जाए, तो उसका पूर्ण अवबोध हो सकता है। जैसे—घड़ा

एक वस्तु है। वह द्रव्य की अपेक्षा एक घट द्रव्य है, जो ऊपर से संकरा, मध्य में गोलाकार और जल-धारण की क्षमता रखने वाला है। क्षेत्र की अपेक्षा वह राजस्थान, गुजरात या बंगाल आदि जिस क्षेत्र में निर्मित होता है। काल की अपेक्षा वह शीतकाल में बना हुआ है या उष्णकाल में बना हुआ है। भाव की अपेक्षा वह किस वर्ण, रूप अथवा आकार से निर्मित है। वह जल डालने का है, घी डालने का है अथवा मंगल कलश के रूप में काम आने वाला है।

इसी प्रकार एक दूसरा उदाहरण 'घड़ी' का हो सकता है। द्रव्य की अपेक्षा 'घड़ी' वह वस्तु है, जो अनेक प्रकार के कल-पुर्जों से बनी हुई है और समय देखने के काम आती है। क्षेत्र की अपेक्षा वह जापान की है, स्विट्जरलैण्ड की है अथवा भारत की है। काल की अपेक्षा वह किस सन्, संवत् अथवा समय की बनी हुई है। भाव की अपेक्षा वह हाथघड़ी है, टेबलघड़ी है या दीवारघड़ी है। आकार में बड़ी है या छोटी है। किस धातु और रंग की है इत्यादि।

घड़ा और घड़ी दोनों निर्जीव पदार्थ हैं। इनका ज्ञान करने में जिन दृष्टियों को काम में लिया गया, सजीव पदार्थ का बोध करने के लिए भी उन्हीं चारों दृष्टियों का उपयोग किया जाता है। उदाहरण के लिए एक गाय को माध्यम बनाया जा सकता है।

द्रव्य

गाय नाम वाला एक चौपाया पशु।

क्षेत्र

अमेरिका से भारत में आयात की गई।

काल

शीतकाल में जन्मी हुई, सद्यःप्रसूता या चिर-प्रसूता।

भाव

दुधारू, लड़ाकू, काले रंग वाली, अधिक दूध देने वाली, मीठा दूध देने वाली इत्यादि।

इस विश्लेषण से विश्लेषित गाय अन्य सभी प्रकार की गायों में

अपनी अलग पहचान बनाकर जिज्ञासु लोगों को सर्वांगीण अवबोध करा सकती है। इस प्रकार संसार की हर वस्तु की जानकारी में ये दृष्टियां कार्यकारी सिद्ध होती हैं।

३. द्रव्य के छह प्रकार हैं—

१. धर्मास्तिकाय
२. अधर्मास्तिकाय
३. आकाशास्तिकाय
४. पुद्गलास्तिकाय
५. जीवास्तिकाय
६. काल

इस वर्ग के प्रथम बोल में सत्—पदार्थ का विवेचन किया गया। तीसरे बोल में द्रव्य के प्रकार बतलाए गए हैं। एक दृष्टि से पदार्थ और द्रव्य एक ही अर्थ के बोधक शब्द हैं, पर्यायवाची शब्द जैसे हैं। तत्त्वार्थ सूत्र में बतलाया गया है—'सत् द्रव्यम्' जो सत् है, सत्तावान् है, पदार्थ है, वह द्रव्य है। यहां प्रश्न हो सकता है कि यदि पदार्थ और द्रव्य एक ही होते तो उनके विवेचन में अन्तर क्यों रहता?

प्रश्न उचित है। इस सन्दर्भ में इतना ही बताना पर्याप्त होगा कि जहां ये दोनों शब्द समानार्थक माने गए हैं, वहां मात्र जीवत्व और अजीवत्व की विवक्षा है। द्रव्य के जितने प्रकार हैं, वे पदार्थ के नौ भेदों में और नौ पदार्थ, तत्त्व के दो भेदों में अन्तर्गर्भित हो जाते हैं। पदार्थ और द्रव्य किसी अपेक्षा से भिन्न हैं। इसलिए इन्हें पर्यायवाची नहीं कहा जा सकता। भिन्नता का मानक बिन्दु है इनकी व्याख्या का आधार। पदार्थ की व्याख्या साधना-प्रधान है और द्रव्य की व्याख्या जागतिक है। उसमें साधना की दृष्टि से पुण्य-पाप, संवर-निर्जरा आदि का वर्णन उपलब्ध होता है और इसमें जगत् की गति, स्थिति आदि के सम्बन्ध में जानकारी मिलती है।

द्रव्य के छह प्रकार हैं। उनमें पांच अस्तिकाय हैं और एक काल है।

अस्तिकाय शब्द का प्रयोग जैनदर्शन में ही हुआ है, जबकि द्रव्य शब्द का व्यवहार अनेक दर्शनों में होता है। यह भी संभावना की जा सकती है कि द्रव्य शब्द जैनदर्शन में बाद में आया है। पहले अस्तिकाय शब्द ही व्यवहृत होता रहा है। अस्तिकाय की व्याख्या दूसरे वर्ग के दूसरे बोल में संक्षिप्त रूप से आ चुकी है। यहां उसे कुछ विस्तृत

रूप दिया जा रहा है।

द्रव्य शब्द के प्राचीन प्रयोग जैनदर्शन में उपलब्ध हैं, पर हैं दूसरे-दूसरे अर्थों में। जैसे—द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव।

नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव।
द्रव्य निक्षेप, द्रव्य नय आदि।

पदार्थ अर्थ में द्रव्य शब्द का प्रयोग यहां कालान्तर में प्रचलित हुआ। इस स्वीकृति के बाद कालक्रम की दृष्टि से देखा जाए तो इसका सबसे प्राचीन प्रयोग उत्तराध्ययन सूत्र में मिलता है—'गुणाणमासओ दव्वं। द्रव्य वास्तविक और काल्पनिक दोनों प्रकार का हो सकता है, जैसे—काल एक काल्पनिक द्रव्य है। पर अस्तिकाय वास्तविक ही है। अस्तिकाय का अर्थ है—अस्ति, अभूत्, भविष्यति इति अस्तिकायः। जो है, था और होगा, वह अस्तिकाय है। इसे किसी परिभाषा में आबद्ध किया जाए तो वह शब्दावलि इस प्रकार हो सकती है—त्रैकालिक सत्ता वाला सावयव अर्थात् सप्रदेश पदार्थ अस्तिकाय है। वह पांच प्रकार का है—

धर्मास्तिकाय

जीव और पुद्गल की गति में असाधारण सहयोग करने वाला सावयव द्रव्य।

अधर्मास्तिकाय

जीव और पुद्गल की स्थिति में असाधारण सहयोग देने वाला सावयव द्रव्य।

आकाशास्तिकाय

जीव और पुद्गल को अवकाश देने वाला सावयव द्रव्य।

पुद्गलास्तिकाय

प्रत्यक्ष रूप में परिवर्तनशील द्रव्य अथवा वह सावयव पदार्थ, जिसमें अणुओं का मिलन और विघटन होता रहता है।

जीवास्तिकाय

चेतनामय सावयव द्रव्य।

काल

पंचास्तिकाय के अतिरिक्त एक द्रव्य और है काल। इसका गुण है—वर्तना। यह जीव और पुद्गल सब पर वर्तता रहता है। काल का सबसे छोटा रूप है समय। समय कभी पिण्डीभूत नहीं होता। जो समय बीत गया, वह संचित नहीं होता। इसलिए इसे निरवयव द्रव्य माना गया है।

पांच अस्तिकाय और काल के रूप में द्रव्य का जो वर्गीकरण है, उसका आधार ठोस और वैज्ञानिक प्रतीत होता है। क्योंकि गति, स्थिति आदि पदार्थ के स्वाभाविक गुण हैं। फिर भी इनमें किसी परोक्ष तत्त्व का सहकार अवश्य होना चाहिए अन्यथा कोई नियामकता नहीं हो सकती।

हमारी दुनिया निमित्तों की दुनिया है। उत्पादन अर्थात् मूल कारण सब कुछ है। पर वह अपना काम निमित्त-सापेक्ष होकर ही करता है। यदि निमित्तों को अस्वीकार कर दिया जाए तो गतिशील पदार्थ की गति ही गति होगी और स्थिर पदार्थ में गति की संभावना समाप्त हो जाएगी। एक ही पदार्थ में गति और स्थिति दोनों दिखाई देते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि परोक्ष में कुछ नियामक तत्त्व ऐसे हैं, जो गति और स्थिति पर नियन्त्रण रखते हैं। वे तत्त्व हैं—धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय। इसी प्रकार आकाश, पुद्गल आदि के भी अपने स्वतन्त्र कार्य हैं, जो उन्हें दूसरे द्रव्यों से पृथक् करते हैं।

४. छह द्रव्यों के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण—

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय—

द्रव्य से एक द्रव्य (स्वनाम), क्षेत्र से लोकव्यापी, काल से अनादि-अनन्त, भाव से अमूर्त, गुण से गमन एवं स्थान गुण।

अकाशास्तिकाय—

द्रव्य से एक द्रव्य (स्वनाम), क्षेत्र से लोकालोकव्यापी, काल से अनादि-अनन्त, भाव से अमूर्त, गुण से अवगाहन गुण।

काल—

द्रव्य से अनन्त द्रव्य, क्षेत्र से समयक्षेत्रवर्ती, काल से अनादि-अनन्त, भाव से अमूर्त, गुण से वर्तन गुण।

पुद्‌गलास्तिकाय—

द्रव्य से अनन्त द्रव्य, क्षेत्र से लोकपरिमाण, काल से अनादि-अनन्त, भाव से मूर्त, गुण से ग्रहण गुण।

जीवास्तिकाय—

द्रव्य से अनन्त द्रव्य, क्षेत्र से लोकपरिमाण, काल से अनादि-अनन्त, भाव से अमूर्त, गुण से उपयोग गुण।

किसी भी तत्त्व को सरलता से समझाने के लिए सामान्यतः वस्तुबोध को चार दृष्टियां काम में ली जाती हैं। इन दृष्टियों से उस तत्त्व को कसा जाता है, तोला जाता है। इस क्रम से वह तत्त्व सुगम और सुबोध हो जाता है। इस वर्ग के दूसरे बोल में इन दृष्टियों को कई उदाहरणों से समझाया गया है। इस बोल में धर्मास्तिकाय आदि छह द्रव्यों को समझाने के लिए पांच दृष्टियों—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण का उपयोग किया गया है। वैसे गुण भाव का ही अंग है। पर यहां अधिक स्पष्टता के लिए एक पृथक् दृष्टि के रूप में उसका ग्रहण किया गया है।

पहली दृष्टि है द्रव्य। धर्मास्तिकाय आदि छहों द्रव्य, द्रव्य की दृष्टि से अपने-अपने नाम से पहचाने जाते हैं। क्षेत्र की दृष्टि से धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय लोकव्यापी है। आकाशास्तिकाय लोक, अलोक—दोनों में व्याप्त है। काल समयक्षेत्रवर्ती है।

जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड और अर्धपुष्कर—ये ढाई द्वीप तथा लवण-समुद्र और कालोदधि—ये दो समुद्र 'समयक्षेत्र' की सीमा में आते हैं। इसे 'मनुष्यक्षेत्र' भी कहते हैं। जैन आगमों के अनुसार यह ४५ लाख योजन विस्तार वाला है। इसका क्षेत्रमान इस प्रकार माना गया है—

मनुष्य क्षेत्र की पृथ्वी के मध्य में एक लाख योजन की ऊंचाई वाला मेरुपर्वत है। मेरुपर्वत के चारों ओर वलयाकार एक लाख योजन लम्बा-चौड़ा जम्बूद्वीप है।

जम्बूद्वीप के चारों ओर वलयाकार दो लाख योजन विस्तार वाला लवणसमुद्र है। लवणसमुद्र के चारों ओर वलयाकार चार लाख योजन विस्तार वाला धातकीखण्ड है। धातकीखण्ड के चारों ओर आठ लाख योजन विस्तार वाला कालोदधि समुद्र है। कालोदधि समुद्र के चारों ओर वलयाकार सोलह लाख योजन विस्तार वाला पुष्कर द्वीप है। इस द्वीप के मध्य में वलयाकार मानुषोत्तर पर्वत है। इसके कारण पुष्कर द्वीप दो भागों में बंट जाता है। इस पर्वत के भीतरी भाग वाले आधे पुष्कर द्वीप में मनुष्य रहते हैं।

इस प्रकार एक लाख योजन का जम्बूद्वीप, जम्बूद्वीप के पूर्व से पश्चिम तक दोनों ओर चार लाख योजन का लवण समुद्र, उसके दोनों ओर आठ लाख योजन का धातकीखण्ड, उसके दोनों ओर सोलह लाख योजन का कालोदधि तथा उसके दोनों ओर सोलह लाख योजन का अर्धपुष्कर द्वीप। इस प्रकार १+४+८+१६+१६ लाख योजन, इनका कुल योग पैंतालीस लाख योजन होता है। यह पैंतालीस लाख योजन का क्षेत्र समयक्षेत्र है। सूर्य और चन्द्रमा की गति इसी क्षेत्र में है। इससे आगे जो सूर्य-चन्द्रमा हैं, वे स्थिर हैं। इस दृष्टि से यह कहा गया है कि काल समयक्षेत्रवर्ती है। यह कथन सूर्य-चन्द्रमा की गति पर निर्भर व्यावहारिक काल की अपेक्षा से है। नैश्चयिक काल तो सर्वत्र होता ही है।

धर्मास्तिकाय आदि छहों द्रव्य काल की अपेक्षा अनादि अनन्त हैं। ये अतीत में थे, वर्तमान में हैं और भविष्य में रहेंगे। ऐसा कोई भी क्षण नहीं था या होगा, जिसमें छहों द्रव्यों का अस्तित्व न हो।

भाव का अर्थ है स्वरूप। धर्मास्तिकाय आदि पांच द्रव्य अमूर्त हैं। इसलिए ये भाव की अपेक्षा से अवर्ण, अगन्ध, अरस और अस्पर्श हैं। पुद्गलास्तिकाय मूर्त है। उसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श सभी होते हैं।

गुण द्रव्य का सदा साथ रहने वाला धर्म है। गुण की अपेक्षा से धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का गुण क्रमशः गमनगुण और स्थानगुण है। संसार के जीव, अजीव सभी पदार्थ इन गुणों के कारण ही गति और स्थिति करते हैं। आकाशास्तिकाय अवगाहन गुण वाला

द्रव्य है। काल का गुण है वर्तन और पुद्गलास्तिकाय का गुण है ग्रहण। किसी दूसरे तत्त्व को मिलाने या छोड़ने का काम पुद्गल ही कर सकता है।

जीव का गुण है उपयोग। उपयोग चेतना का व्यापार है। उपयोग का अर्थ है जानना और देखना। यह गुण छह द्रव्यों में एक जीव द्रव्य में ही मिलता है।

ऊपर आलेखित छहों द्रव्य जहां हों, वह लोक कहलाता है।

५. गुण के दो प्रकार हैं—

१. **सामान्यगुण—अस्तित्व, द्रव्यत्व आदि**

२. **विशेषगुण—चेतनत्व, मूर्तत्व आदि**

तीसरे बोल में द्रव्य के प्रकार बतलाए गए। इस बोल में गुण के प्रकार उल्लिखित हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में द्रव्य की व्याख्या में लिखा है—'गुणाणमासओ दव्वं'। गुणों का आश्रय द्रव्य है। जैन सिद्धान्तदीपिका में इस सन्दर्भ को विश्लेषित करते हुए लिखा गया है—'गुणपर्यायाश्रयो द्रव्यम्'—जो गुण और पर्याय का आधार है, वह द्रव्य है। एक ओर गुणों का आश्रय द्रव्य तथा दूसरी ओर गुण और पर्यायों का आश्रय द्रव्य। पढ़ने में विसंगति-सी प्रतीत होती है। पर यह विसंगति नहीं, वक्ता की विवक्षा है।

गुण पदार्थ का धर्म है। वह दो प्रकार का होता है—सहभावी और क्रमभावी। सहभावी धर्म गुण है और क्रमभावी धर्म पर्याय है। जहां केवल गुणों के आधार को द्रव्य बतलाया गया है, वहां धर्म मात्र की विवक्षा है। पर्याय की स्वतन्त्र विवक्षा नहीं है। और जहां गुण तथा पर्याय दोनों के आधार को द्रव्य कहा गया है, वहां सहभावी और क्रमभावी दोनों धर्मों की विवक्षा है। इस बोल में गुण का विवेचन किया गया है।

गुण के दो प्रकार हैं—सामान्य और विशेष। सब द्रव्यों में समान रूप से पाया जाने वाला धर्म सामान्य गुण है। इसके छह प्रकार हैं—

अस्तित्व—द्रव्य का वह गुण, जिसके कारण उसका कभी
हो।

वस्तुत्व— द्रव्य का वह गुण, जिसके कारण वह कोई न कोई अर्थक्रिया अवश्य करे।

द्रव्यत्व — द्रव्य का वह गुण, जो परिवर्तनशील पर्यायों का आधार है।

प्रमेयत्व— वस्तु का वह गुण, जो ज्ञान का विषय बनता है।

प्रदेशवत्व—द्रव्य का वह गुण, जो उसके प्रदेशों का माप करता है।

अगुरुलघुत्व—द्रव्य का वह गुण, जिसके कारण वह अपने स्वरूप में स्थित रहता है।

विश्व का कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है, जिसमें उपर्युक्त ये छह गुण समान रूप से नहीं पाए जाते हों। सबमें समान रूप से होने के कारण ही इन्हें सामान्य गुण माना गया है।

जो गुण सब द्रव्यों में न मिले, वह विशेष गुण है। विशेष गुण हर पदार्थ का अपना होता है। उसका किसी दूसरे पदार्थ में संक्रमण नहीं होता। उसके सोलह प्रकार हैं—

१. गतिहेतुत्व	७. गन्ध	१३. चेतनत्व
२. स्थितिहेतुत्व	८. वर्ण	१४. अचेतत्व
३. अवगाहहेतुत्व	९. ज्ञान	१५. मूर्तत्व
४. वर्तनाहेतुत्व	१०. दर्शन	१६. अमूर्तत्व
५. स्पर्श	११. सुख	
६. रस	१२. वीर्य	

गतिहेतुत्व और स्थितिहेतुत्व, धर्मास्तिकाय एवं अधर्मास्तिकाय का गुण है। अवगाहनहेतुत्व आकाश का गुण है। वर्तना काल का गुण है। स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण पुद्गल के गुण हैं। ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य जीव के गुण हैं। चेतनत्व जीव का गुण है। अचेतनत्व जीव को छोड़ चार अस्तिकाय और काल का गुण है। मूर्तत्व पुद्गल का गुण है। अमूर्तत्व पुद्गल को छोड़ चार अस्तिकाय और काल का गुण है।

उपर्युक्त सोलह गुणों में जीव और पुद्गल में छह-छह गुण पाए जाते हैं। शेष सब द्रव्यों में तीन-तीन गुण होते हैं।

६. पर्याय के दो प्रकार हैं—

१. स्वभाव पर्याय २. विभाव पर्याय

अथवा

१. अर्थ (अव्यक्त) पर्याय २. व्यंजन (व्यक्त) पर्याय

द्रव्य की परिवर्तनशील अवस्थाओं का नाम पर्याय है अथवा पूर्व आकार के परित्याग और उत्तर आकार की उपलब्धि को पर्याय कहा जाता है। द्रव्य शब्द का प्रयोग अन्य दर्शनों में मिलता है, पर पर्याय की वहां कोई चर्चा नहीं है। वैसे पर्याय शब्द है बहुत महत्त्वपूर्ण। क्योंकि द्रव्य का दर्शन पर्याय रूप में ही होता है। पर्यायों से अतिरिक्त द्रव्य है भी क्या ? कोई भी द्रव्य हो, उसका जो दृश्य रूप है, वह पर्याय ही है।

पर्याय के दो प्रकार हैं—स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय। बाह्य निमित्तों के बिना द्रव्य में परिवर्तन होता रहता है, वह स्वभाव पर्याय है। बाह्य निमित्तों के द्वारा द्रव्य में जो बदलाव आता है, वह उसका विभाव पर्याय है।

समुद्र में हवा आदि बाह्य निमित्तों के न होने पर भी ज्वार उठता है, यह पानी का स्वभाव पर्याय है। पानी ठंडा या गर्म होता है, खारा या मीठा होता है, यह उसका विभाव पर्याय है।

प्रकारान्तर से पर्याय के दो अन्य भेद माने गए हैं—अर्थ पर्याय और व्यंजन पर्याय। जो पर्याय सूक्ष्म होता है, इन चर्मचक्षुओं द्वारा देखा नहीं जाता, जिसके बदल जाने पर भी द्रव्य के आकार में कोई परिवर्तन परिलक्षित नहीं होता और जो केवल वर्तमान समय में होता है, वह अर्थ पर्याय है।

जो पर्याय स्थूल होता है, सर्वसाधारण के बोध का विषय बनता है, त्रैकालिक होता है और शब्दों के द्वारा बताया जा सकता है, वह व्यंजन पर्याय है। व्यंजन का अर्थ है—व्यक्त या स्पष्ट। इस दृष्टि से जो-जो स्पष्ट है, वह सब व्यंजन पर्याय है।

पर्याय द्रव्य और गुण दोनों के आश्रित रहता है। इस दृष्टि से द्रव्य और गुण में स्थूल या सूक्ष्म जितना बदलाव आता है, वह सब पर्याय है। जीव का मनुष्य और देव आदि रूपों में परिवर्तन होना, पुद्गलों

का भिन्न-भिन्न स्कन्धों में परिणमन होना, ये सब द्रव्य के पर्याय हैं।

ज्ञान और दर्शन में परिवर्तन होना, वर्ण आदि में नयापन और पुरानापन होना, ये सब गुण के पर्याय हैं।

७. प्रमाण के दो प्रकार हैं—

१. प्रत्यक्ष २. परोक्ष

८. प्रत्यक्ष के दो प्रकार हैं—

१. पारमार्थिक प्रत्यक्ष २. सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष

सातवें बोल में प्रमाण के भेदों का उल्लेख है। भेदों की चर्चा से पहले ज्ञातव्य यह है कि प्रमाण किसे कहा जाता है? दार्शनिक ग्रंथों में प्रमाण को परिभाषित करते हुए कहा गया है—*'यथार्थज्ञानं प्रमाणम्'* जो वस्तु जैसी है, उसका उसी रूप में परिच्छेद—बोध कराने वाला ज्ञान प्रमाण है अथवा किसी वस्तु के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए जिसका उपयोग हो, उस यथार्थ ज्ञान का नाम प्रमाण है। उसके मुख्य रूप से दो भेद माने गये हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष।

प्रत्यक्ष बिना माध्यम से होने वाला साक्षात् ज्ञान है और परोक्ष किसी माध्यम से होने वाला ज्ञान है। अक्ष शब्द के कई अर्थ होते हैं। प्रस्तुत संदर्भ में इसके दो अर्थ हैं—आत्मा और इन्द्रिय। आत्मा के द्वारा इस सम्पूर्ण चराचर जगत को हाथ में रखे हुए आंवले की भांति जानने या देखने वाला ज्ञान आत्मप्रत्यक्ष है। इसी प्रकार इन्द्रियों से साक्षात्कार होने पर किसी अन्य माध्यम के बिना जो ज्ञान होता है, वह इन्द्रियप्रत्यक्ष है। जिस ज्ञानोपलब्धि में आत्मा या इन्द्रिय और पदार्थ के मध्य कोई माध्यम या व्यवधान रहता है, वह परोक्ष ज्ञान है।

आठवें बोल में प्रत्यक्ष ज्ञान के दो भेद बतलाए गए हैं—पारमार्थिक और सांव्यवहारिक। पारिमार्थिक वास्तविक प्रत्यक्ष होता है। यह सीधा आत्मसाक्षात्कार है। इसमें किसी प्रकार के माध्यम या व्यवधान की उपस्थिति नहीं होती। इस दृष्टि से इसे पारमार्थिक माना गया है।

सांव्यवहारिक का अर्थ है व्यवहार-सापेक्ष। जो कुछ अंश

से देखा जाता है, कान से सुना जाता है, जीभ से चखा जाता है, नासिका से सूंघा जाता है या शरीर के किसी अवयव से स्पर्श द्वारा ज्ञान किया जाता है, वह प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है। क्योंकि आत्मा ज्ञेय पदार्थ के मध्य में आंख, कान, जीभ आदि का व्यवधान है। फिर भी लोकदृष्टि में यह प्रत्यक्ष जैसा ही लगता है। इसलिए इसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा गया है।

व्यवहार और परमार्थ ये दो तत्त्व हैं। निश्चय नय की दृष्टि से परमार्थ ही यथार्थ होता है। किन्तु व्यवहार नय व्यवहार का लोप नहीं होने देता। बहुत-सी बातें ऐसी होती हैं, जिनका यथार्थ के धरातल पर कोई मूल्य नहीं है, पर वे लोक में मान्य हैं। ऐसी बातों को तीर्थंकरों ने भी मान्यता दी है। इसलिए उन्हें अस्वीकार करने का कोई अर्थ नहीं होता।

एक बच्चा काठ की लकड़ी को घोड़ा मानकर उस पर बैठता है। उसे चलाता है। बड़े लोग भी उस लकड़ी को घोड़ा कहकर पुकारते हैं। यह कथन असत्य नहीं, व्यवहार सत्य है। इसी प्रकार सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष आत्मा और पदार्थ के बीच व्यवधान होने के कारण परोक्ष होने पर भी प्रत्यक्ष कहलाता है।

९. पारमार्थिक प्रत्यक्ष के तीन प्रकार हैं—

१. अवधि　　२. मनःपर्यव　　३. केवल

नौवें बोल में पारमार्थिक प्रत्यक्ष के तीन प्रकार बतलाये गये हैं— अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान। केवलज्ञान पूर्ण या सकल प्रत्यक्ष कहलाता है। अवधिज्ञान और मनःपर्यव ज्ञान अपूर्ण या विकल प्रत्यक्ष कहलाते हैं। इनमें आत्मा और पदार्थ के मध्य इन्द्रिय, मन तथा अन्य प्रमाण के सहारे की अपेक्षा नहीं रहती। इस दृष्टि से इन्हें पारमार्थिक प्रत्यक्ष, आत्मप्रत्यक्ष या नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष कहा जाता है। पर इनसे केवलज्ञान की भांति अमूर्त्त तत्त्वों का ज्ञान नहीं होता, इसलिए ये अपूर्ण या विकल प्रत्यक्ष हैं।

अवधिज्ञान

'अवधानं अवधिः' एकाग्रता की विशिष्ट स्थिति में संसार के मूर्त्त

पदार्थों को जानने वाला ज्ञान अवधिज्ञान है। अवधिज्ञान उपलब्ध होने पर भी एकाग्रता के अभाव में वस्तु का बोध नहीं हो सकता।

अवधिज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान है। सब जीवों का क्षयोपशम समान नहीं होता। इसलिए अवधिज्ञान भी सबका एक रूप नहीं होता। यह ज्ञान बढ़ सकता है, घट भी सकता है। जीवन भर साथ रह सकता है और छूट भी सकता है। व्यक्ति का अनुगमन कर सकता है और स्थान विशेष में भी हो सकता है। यह ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि की सीमाओं में आवद्ध है, इस दृष्टि से भी इसे अवधिज्ञान कहा जाता है।

मन:पर्यवज्ञान

मनोद्रव्य की पर्यायों का साक्षात्कार करने वाला ज्ञान मन:पर्यवज्ञान है। इस ज्ञान के द्वारा समनस्क जीवों के मानसिक भावों को ही जाना जा सकता है। क्योंकि यह मनोवर्गणा के पुद्‌गलों के आधार पर सामने वाले व्यक्ति के मानसिक चिन्तन का अवबोध करता है। अवधिज्ञान का विषय समस्त रूपी द्रव्य है, जबकि मन:पर्यवज्ञान का विषय केवल मनोद्रव्य है। यह ज्ञान केवल साधुओं को ही उपलब्ध हो सकता है।

केवलज्ञान

संसार के सब द्रव्यों और पर्यायों का साक्षात्कार करने वाला ज्ञान केवलज्ञान है। इस ज्ञान के उपलब्ध हो जाने पर शेप चार ज्ञान कृतार्थ हो जाते हैं। जैनदर्शन के अनुसार आत्मा ज्ञान का आधार नहीं, वह ज्ञानस्वरूप है। इस दृष्टि से आत्मा का निरावरण स्वरूप ही केवलज्ञान है। जब तक केवलज्ञान प्राप्त नहीं होता है, आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार नहीं हो सकता। इस दृष्टि से उपर्युक्त तथ्य को इस भाषा में भी कहा जा सकता है कि आत्म-साक्षात्कार ही केवलज्ञान है। यह ज्ञान उपलब्ध होने के बाद सदा उपलब्ध रहता है। इससे मूर्त्त और अमूर्त्त सब पदार्थों की त्रैकालिक अवस्था का बोध होता है।

१०. सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष (श्रुतनिश्रित मति) के चार प्रकार हैं—

१. अवग्रह
२. ईहा
३. अवाय
४. धारणा

दसवें बोल में सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के चार प्रकार बतलाए गए हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। प्रत्यक्ष के ये चारों प्रकार इन्द्रिय और मन से सापेक्ष होने के कारण परोक्ष होने पर भी स्पष्टता के कारण प्रत्यक्ष ज्ञान की श्रेणी में परिगणित हो गए।

अवग्रह

इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध होने पर उसके अस्तित्व का बोध मात्र होता है। इसे न्याय की भाषा में दर्शन कहा गया है। दर्शन के बाद सामान्य, विशेष धर्मों का विश्लेषण किए बिना किसी भी पदार्थ के अस्तित्व का ग्रहण करना अवग्रह है। इसके दो भेद हैं—व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह। व्यंजनावग्रह में वस्तु का अव्यक्त बोध होता है और अर्थावग्रह में उसकी थोड़ी-सी अभिव्यक्ति होती है।

ईहा

ईहा का अर्थ है वितर्क। जिस समय कोई जिज्ञासु व्यक्ति किसी व्यक्ति या पदार्थ के अस्तित्व को स्वीकारने से पहले उसके स्वरूपनिर्धारण में उत्पन्न संदेहों का निराकरण कर इस निर्णय पर पहुंचता है कि यह अमुक व्यक्ति या अमुक पदार्थ होना चाहिए। इस वितर्कमूलक अवधारणा को ईहा कहा जाता है।

अवाय

यह निर्णयात्मक ज्ञान है। इसमें न संदेह रहता है और न संभावना। किसी निश्चित प्रमाण के आधार पर यह जानना कि यह अमुक व्यक्ति ही है, अमुक पदार्थ ही है—इस प्रकार का अवधारणात्मक ज्ञान अवाय कहलाता है।

धारणा

अवाय के द्वारा गृहीत अवबोध चेतना के किसी तल पर इतनी गहराई

पदार्थों को जानने वाला ज्ञान अवधिज्ञान है। अवधिज्ञान उपलब्ध होने पर भी एकाग्रता के अभाव में वस्तु का बोध नहीं हो सकता।

अवधिज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान है। सब जीवों का क्षयोपशम समान नहीं होता। इसलिए अवधिज्ञान भी सबका एक रूप नहीं होता। यह ज्ञान बढ़ सकता है, घट भी सकता है। जीवन भर साथ रह सकता है और छूट भी सकता है। व्यक्ति का अनुगमन कर सकता है और स्थान विशेष में भी हो सकता है। यह ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि की सीमाओं में आबद्ध है, इस दृष्टि से भी इसे अवधिज्ञान कहा जाता है।

मन:पर्यवज्ञान

मनोद्रव्य की पर्यायों का साक्षात्कार करने वाला ज्ञान मन:पर्यवज्ञान है। इस ज्ञान के द्वारा समनस्क जीवों के मानसिक भावों को ही जाना जा सकता है। क्योंकि यह मनोवर्गणा के पुद्गलों के आधार पर सामने वाले व्यक्ति के मानसिक चिन्तन का अवबोध करता है। अवधिज्ञान का विषय समस्त रूपी द्रव्य है, जबकि मन:पर्यवज्ञान का विषय केवल मनोद्रव्य है। यह ज्ञान केवल साधुओं को ही उपलब्ध हो सकता है।

केवलज्ञान

संसार के सब द्रव्यों और पर्यायों का साक्षात्कार करने वाला ज्ञान केवलज्ञान है। इस ज्ञान के उपलब्ध हो जाने पर शेष चार ज्ञान कृतार्थ हो जाते हैं। जैनदर्शन के अनुसार आत्मा ज्ञान का आधार नहीं, वह ज्ञानस्वरूप है। इस दृष्टि से आत्मा का निरावरण स्वरूप ही केवलज्ञान है। जब तक केवलज्ञान प्राप्त नहीं होता है, आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार नहीं हो सकता। इस दृष्टि से उपर्युक्त तथ्य को इस भाषा में भी कहा जा सकता है कि आत्म-साक्षात्कार ही केवलज्ञान है। यह ज्ञान उपलब्ध होने के बाद सदा उपलब्ध रहता है। इससे मूर्त्त और अमूर्त्त सब पदार्थों की त्रैकालिक अवस्था का बोध होता है।

१०. सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष (श्रुतनिश्रित मति) के चार प्रकार हैं—

१. अवग्रह	३. अवाय
२. ईहा	४. धारणा

दसवें बोल में सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के चार प्रकार बतलाए गए हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। प्रत्यक्ष के ये चारों प्रकार इन्द्रिय और मन से सापेक्ष होने के कारण परोक्ष होने पर भी स्पष्टता के कारण प्रत्यक्ष ज्ञान की श्रेणी में परिगणित हो गए।

अवग्रह

इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध होने पर उसके अस्तित्व का बोध मात्र होता है। इसे न्याय की भाषा में दर्शन कहा गया है। दर्शन के बाद सामान्य, विशेष धर्मों का विश्लेषण किए बिना किसी भी पदार्थ के अस्तित्व का ग्रहण करना अवग्रह है। इसके दो भेद हैं—व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह। व्यंजनावग्रह में वस्तु का अव्यक्त बोध होता है और अर्थावग्रह में उसकी थोड़ी-सी अभिव्यक्ति होती है।

ईहा

ईहा का अर्थ है वितर्क। जिस समय कोई जिज्ञासु व्यक्ति किसी व्यक्ति या पदार्थ के अस्तित्व को स्वीकारने से पहले उसके स्वरूपनिर्धारण में उत्पन्न संदेहों का निराकरण कर इस निर्णय पर पहुंचता है कि यह अमुक व्यक्ति या अमुक पदार्थ होना चाहिए। इस वितर्कमूलक अवधारणा को ईहा कहा जाता है।

अवाय

यह निर्णयात्मक ज्ञान है। इसमें न संदेह रहता है और न संभावना। किसी निश्चित प्रमाण के आधार पर यह जानना कि यह अमुक व्यक्ति ही है, अमुक पदार्थ ही है—इस प्रकार का अवधारणात्मक ज्ञान अवाय कहलाता है।

धारणा

अवाय के द्वारा गृहीत अवबोध चेतना के किसी तल पर इतनी गहराई

से प्रतिबिम्बित हो जाता है कि वह स्मृति के वातायन से ओझल नहीं हो पाता, उसे धारणा कहते हैं। धारणा शब्द का शाब्दिक अर्थ भी यही है कि जिसे धारण करके रखा जा सके, जो संस्कारों के गहरे में उतर जाए, जो चित्त की वासना के रूप में सुरक्षित रह जाए, वह धारणा है। यह हमारे स्मृतिकोष को समृद्ध बनाए रखता है। जिसका धारणाबल पुष्ट नहीं होता, उसका स्मृतिबल भी क्षीण होने लगता है।

अवग्रह ईहा, अवाय और धारणा चारों एक साथ भी हो सकते हैं तथा एक, दो, तीन या चार—इस क्रम से भी हो सकते हैं। एक हो या चार, इतना निश्चित है कि इनके क्रम का अतिक्रमण नहीं होता अर्थात् अवग्रह से पहले ईहा नहीं होगी, ईहा से पहले अवाय नहीं होगा और अवाय से पहले धारणा नहीं होगी। धारणा में पूरी चतुष्टयी को होना ही है। किन्तु ईहा और अवाय में चारों की अवस्थिति नहीं होती।

कुछ दार्शनिक अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा में कोई विशेष अन्तर नहीं देखते, किन्तु वास्तव में इन सबका स्वतन्त्र अस्तित्व है। उसे प्रमाणित करने वाले तीन हेतु हैं—

१. एक पदार्थ के ज्ञान में सबके होने की अनिवार्यता नहीं है।

२. ये एक-दूसरे से विशिष्ट, विशिष्टतर ज्ञानधारा का प्रकाशन करते हैं।

३. इनके होने का निश्चित क्रम है। उस क्रम का व्यतिक्रम नहीं हो सकता।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के ये चारों ही प्रकार हमारी ज्ञानचेतना को विशद बनाने वाले हैं और लोकव्यवहार को संचालित करने में भी बहुत उपयोगी हैं।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष का सम्बन्ध पांच इन्द्रियों और मन के साथ है। इन छहों का व्यञ्जनावग्रह, अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के साथ योग करने पर (६ × ५ = ३०) तीस भेद होते हैं। चक्षु इन्द्रिय और मन के व्यञ्जनावग्रह नहीं होता। इस प्रकार तीस में से दो भेद कम कर देने पर सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष अथवा श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के अठाईस भेद होते हैं।

११. परोक्ष के दो प्रकार हैं—

१. मतिज्ञान   २. श्रुतज्ञान

जिस ज्ञान में दूसरे निमित्तों का सहयोग अपेक्षित हो, उसे परोक्ष ज्ञान माना जाता है। उसके दो भेद होते हैं—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान। इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाला ज्ञान मतिज्ञान कहलाता है। स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, अनुमान आदि मतिज्ञान के ही प्रकार हैं। मतिज्ञान का एक नाम आभिनिबोधिक ज्ञान भी है।

शब्द, संकेत आदि के सहारे होने वाला मतिज्ञान ही श्रुतज्ञान है। सामान्यतः मतिज्ञान और श्रुतज्ञान साथ-साथ ही रहते हैं। जहां मतिज्ञान होता है वहां श्रुतज्ञान होता है और जहां श्रुतज्ञान होता है, वहां मतिज्ञान होता है, फिर भी इसमें कुछ अन्तर है, जिसके कारण दो अलग ज्ञान मानने की सार्थकता है। जैसे—

- मतिज्ञान मननप्रधान होता है। श्रुतज्ञान शब्दप्रधान।
- मतिज्ञान से होने वाला बोध स्वगत होता है। श्रुतज्ञान स्व और पर दोनों का बोध देता है।
- मतिज्ञान मूक है। श्रुतज्ञान रचनात्मक है।
- श्रुतज्ञान मतिज्ञान होने के बाद ही होता है। मतिज्ञान श्रुत-पूर्वक नहीं होता।
- मतिज्ञान का विषय केवल वर्तमानकाल है। श्रुतज्ञान का विषय त्रैकालिक है।
- मतिज्ञान छाल के समान है। क्योंकि वह श्रुतज्ञान का कारण है।
- श्रुतज्ञान रज्जु के समान है। क्योंकि वह मतिज्ञान का कार्य है।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान जिसके पास होता है वह व्यक्ति, सम्यक्त्वी है तो उसका ज्ञान मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान कहलाता है। मिथ्यात्वी है तो उसका ज्ञान मतिअज्ञान एवं श्रुतअज्ञान कहलाता है। इस ज्ञान और अज्ञान से तत्त्व के बोध में कोई अन्तर नहीं रहता। पात्र के भेद से ज्ञान और अज्ञान का वर्गीकरण किया गया है।

१२. मतिज्ञान (अश्रुतनिश्रित मति) के चार प्रकार हैं

१. औत्पत्तिकी बुद्धि
२. वैनयिकी बुद्धि
३. कार्मिकी (कर्मजा) बुद्धि
४. पारिणामिकी बुद्धि

इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाला ज्ञान मतिज्ञान कहलाता है। उसके दो भेद हैं—श्रुतनिश्रित मति और अश्रुतनिश्रित मति। जो बुद्धि अतीत में शास्त्रों के पर्यालोचन से परिष्कृत हो गई हो, पर वर्तमान-काल में शास्त्र-पर्यालोचन के बिना ही जिसकी उत्पत्ति हो, वह बुद्धि श्रुतनिश्रित मति कहलाती है। शास्त्रों के अभ्यास विना ही विशिष्ट क्षयोपशम भाव से यथार्थ अवबोध कराने वाली बुद्धि अश्रुतनिश्रित मति कहलाती है। श्रुतनिश्रित मति का समावेश सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में किया गया है। उसके भेदों का विवेचन इसी वर्ग के दसवें बोल में किया जा चुका है। अश्रुतनिश्रित मति के चार प्रकारों की व्याख्या इस बोल में है।

औत्पत्तिकी

जो कभी देखा नहीं, जिसके बारे में कभी सुना नहीं, उस अर्थ के विषय में तत्काल ज्ञान हो जाता है, वह औत्पत्तिकी बुद्धि है।

औत्पत्तिकी बुद्धि को प्रतिभा और प्रातिभ ज्ञान भी कहा जाता है।

वैनयिकी

विनय का अर्थ है विधिपूर्वक शिक्षा। शिक्षा से उत्पन्न होने वाली बुद्धि वैनयिकी कहलाती है।

दूसरी परिभाषा के अनुसार गुरु के विनय—शुश्रूषा के निमित्त से होने वाली बुद्धि वैनयिकी कहलाती है।

कार्मिकी (कर्मजा)

कर्म का अर्थ है अभ्यास। अभ्यास करते-करते जो बुद्धि पैदा होती है, वह कार्मिकी कहलाती है।

कर्म दो प्रकार का होता है—सर्वकालिक और कादाचित्क। सर्व-कालिक कर्म 'कर्म' कहलाता है और कादाचित्क कर्म 'शिल्प' कहलाता

है। दूसरे शब्दों में जिस कर्म का अभ्यास आचार्य के सान्निध्य में न कर अपने आप किया जाए, वह कर्म कहलाता है और जिस कर्म का अभ्यास आचार्य के सान्निध्य में किया जाए, वह शिल्प कहलाता है।

पारिणामिकी

अवस्था बढ़ने के साथ-साथ जो नाना प्रकार के अनुभव होते हैं, उनसे उत्पन्न होने वाली बुद्धि पारिणामिकी कहलाती है।

औत्पत्तिकी बुद्धि का उदाहरण

उज्जयिनी नगरी के पास नटों का एक गांव था। वहां भरत नाम का नट रहता था। उसके एक पुत्र था। नाम था उसका रोहक। वह बुद्धिमान था और सूझ-बूझ का धनी था। उज्जयिनी का राजा भी उसकी बुद्धि से प्रभावित था।

एक बार राजा ने एक मरणासन्न हाथी को नटों के पास भिजवाया। राजा ने कहा—इसकी अच्छी प्रकार सेवा करो। प्रतिदिन इसके संवाद मेरे पास पहुंचाओ। पर यह मत कहना कि हाथी मर गया है। अन्यथा दण्ड दिया जाएगा।

नट अच्छी प्रकार से हाथी की देखभाल करने लगे। पूरी जागरूकता के बावजूद एक दिन वह मर गया। नट घबराए। किन्तु रोहक ने उनको आश्वस्त कर दिया। रोहक के निर्देशानुसार कुछ नट राजा के पास जाकर बोले—महाराज! आज हाथी न कुछ खाता है, न पीता है, न उठता है, न घूमता है और न सांस लेता है।

राजा कुपित होकर बोला—तो क्या हाथी मर गया?

नटों ने कहा—राजन्! हम यह बात नहीं कह सकते। ऐसा तो आप ही कह सकते हैं।

राजा ने समझ लिया कि हाथी मर गया। रोहक के बुद्धिबल ने नटों को बचा लिया।

वैनयिकी बुद्धि का उदाहरण

किसी नगर में एक सिद्ध पुरुष रहता था। उसके दो शिष्य थे। दोनों में एक अविनीत था और दूसरा विनीत। एक बार वे दोनों कहीं जा रहे

थे। रास्ते में उन्होंने बहुत बड़े पदचिह्न देखे। अविनीत शिष्य बोला—इधर से कोई हाथी गया है। विनीत शिष्य ने सरलता के साथ कहा—मित्र ! ये हाथी के नहीं हथिनी के पदचिह्न हैं। वह हथिनी बाईं आंख से कानी है। उस पर कोई रानी बैठी थी, जो गर्भवती है।

अविनीत शिष्य को यह सब अच्छा नहीं लगा। उसने कहा—केवल पदचिह्न देखकर तुम इतनी बातें कैसे बता सकते हो? विनीत शिष्य बोला—आगे चलकर हम इसकी जांच कर सकते हैं।

थोड़ी दूर पहुंचने पर उन्होंने देखा—गांव से बाहर तालाब के किनारे ठाटबाट वाले किसी व्यक्ति का पड़ाव है। वहां कई तम्बू बंधे हैं। एक तम्बू के बाहर कानी हथिनी बंधी हुई है। ठीक उसी समय एक दासी तम्बू से बाहर निकली और एक प्रभावशाली व्यक्ति से बोली—मंत्रीवर ! महाराज को सूचना दीजिए। महारानी ने राजकुमार को जन्म दिया है। विनीत शिष्य के चेहरे पर अपने कथन की सत्यता प्रमाणित होने की चमक थी। अविनीत शिष्य वहां कुछ बोल तो नहीं सका, पर उसका मन दुःख और आवेश से भर गया। सिद्धपुरुष के पास पहुंचते ही वह बरस पड़ा। उसने कहा—गुरुजी ! आप भी इतना पक्षपात रखते हैं, यह मुझे आज पता लगा है। सिद्धपुरुष कुछ समझ नहीं पाया। उसने शान्त भाव से स्थिति की जानकारी कर अविनीत शिष्य से पूछा—तुमने कैसे जाना कि वे पांव हाथी के थे। वह लापरवाही से बोला—हाथी के बिना इतने बड़े पांव और किसके हो सकते थे।

अब गुरु ने विनीत शिष्य से पूछा कि उसने सारी बातों की जानकारी कैसे की? शिष्य बोला—गुरुजी ! वे पदचिह्न उभरे-उभरे से थे। जिस रास्ते में पदचिह्न थे, वहां एक ओर से वृक्षों की टहनियां-पत्तियां खाई हुई थीं। हाथी पर सवारी करने वाले व्यक्ति तो राजा-रानी ही हो सकते हैं, यह मेरा अनुमान था। संभवतः रानी वहां लघुशंका के लिए नीचे उतरी थी। बैठते समय उसका हाथ धरती पर टिका। हाथ की रेखाओं को देखने से पता लग गया कि वह गर्भवती थी।

दोनों शिष्यों की बात सुन सिद्धपुरुष बोला—मैंने ये सब बातें इसको कब बताई थीं। पर इसने मेरी हर बात को विनम्रता से ध्यान

पूर्वक सुना, उस पर मनन किया और अहंकार बढ़ने नहीं दिया। इसीलिए यह हर घटना प्रसंग का इतना सूक्ष्म विश्लेषण कर सकता है। यह इसकी वैनयिकी बुद्धि है।

कार्मिकी बुद्धि का उदाहरण

एक चोर किसी वनिए के घर चोरी करने गया। वहां उसने इस प्रकार सेंध लगाई कि कमल की आकृति बन गई। प्रातःकाल जब लोगों ने उस सेंध को देखा तो चोरी की बात भूल गए और कला की प्रशंसा करने लगे। उन लोगों में वह चोर भी था, जो अपनी प्रशंसा सुनकर खुश हो रहा था। वहां एक किसान खड़ा था। उसने कहा—भाई! यह क्या बड़ी बात है? अपने काम में सभी व्यक्ति कुशल होते हैं।

किसान की बात चोर को बहुत बुरी लगी। वह एक दिन मौका पाकर किसान के खेत में पहुंचा और छूरा निकालकर उस पर वार करने लगा। किसान एकदम पीछे हट गया और बोला—भाई! क्या बात है? मुझे मार क्यों रहे हो? चोर ने कहा—उस दिन तुमने मेरी लगाई हुई सेंध की प्रशंसा क्यों नहीं की?

किसान सारी बात समझ गया। उसने अपने बचाव का उपाय सोचते हुए कहा—भाई! मैंने तुम्हारी निन्दा कब की थी। मैंने तो कहा था कि अभ्यास से हर व्यक्ति अपने काम में कुशल हो जाता है। देखो मेरे हाथ में ये मूंग के दाने हैं। तुम कहो तो मैं इन सबको एक साथ ऊर्ध्वमुख, अधोमुख या एक पार्श्व से गिरा दूं।

चोर ने मूंग के दाने अधोमुख गिराने के लिए कहा। किसान ने वहां चादर बिछाकर दाने इस कुशलता से बिखेरे कि सब अधोमुख ही गिरे। चोर यह देख चकित रह गया। वह बोला—भाई! तुम तो मुझसे भी अधिक कुशल हो।

चोर और किसान दोनों की कर्मजा बुद्धि इस उदाहरण से स्पष्ट होती है।

पारिणामिकी बुद्धि का उदाहरण

एक व्यक्ति ने श्रावक के बारह व्रत स्वीकार किए। स्वदारसंतोष भी उनमें एक व्रत था। एक बार उसने अपनी पत्नी की सहेली को देखा।

वह उसमें आसक्त हो गया। अपनी इस मनःस्थिति को न तो वह बदल सका और न व्यक्त कर सका। इससे वह खिन्न रहने लगा। एक दिन उसकी पत्नी ने बहुत अधिक आग्रह किया तो उसने अपना मन खोलकर रख दिया।

श्रावक की पत्नी बहुत समझदार थी। उसने सोचा—मेरे पति ऐसे विचारों में आयुष्य का बंध कर लेंगे तो इनकी दुर्गति हो जाएगी। कोई ऐसा उपाय करना चाहिए, जिससे इनका व्रत भंग भी न हो और ऐसे कलुषित विचार भी समाप्त हो जाएं।

बहुत सोच-विचार कर वह अपने पति के पास जाकर बोली—आप दुःखी क्यों होते हैं ? मैंने अपनी सहेली से बात कर ली है। वह आज रात को आपके पास आ जाएगी। शर्त एक ही है कि वह अन्धेरे में आएगी और उजाला होने से पहले ही लौट जाएगी।

अपने पति को सब तरह से आश्वस्त कर वह सहेली के घर गई और उसके वस्त्र, आभूषण आदि पहनकर पति के पास चली गई। प्रातःकाल जब वह मूल रूप में पति से मिली तो वह पश्चात्ताप की आग में जल रहा था। उसने कहा—मैंने व्रत स्वीकार करके उसका भंग कर दिया है। इस पाप से मेरा छुटकारा कैसे होगा ? अब मैं क्या करूं ?

अपने पति की सहजता और अन्तर्मन के पश्चात्ताप को देख पत्नी ने सही बात बता दी। श्रावक अपनी पत्नी के इस कौशल से बहुत खुश हुआ। उसने गुरु के समक्ष आलोचना कर अपनी दूषित मनोवृत्ति के लिए प्रायश्चित्त स्वीकार किया। पारिणामिकी बुद्धि के द्वारा अपने पति को पतित होने से बचाने वाली वह श्राविका कोई विलक्षण महिला थी।

१३. श्रुतज्ञान के चौदह प्रकार हैं—

१. अक्षरश्रुत	**२. अनक्षरश्रुत**
३. संज्ञिश्रुत	**४. असंज्ञिश्रुत**
५. सम्यक्‌श्रुत	**६. मिथ्याश्रुत**
७. सादिश्रुत	**८. अनादिश्रुत**
९. सपर्यवसितश्रुत	**१०. अपर्यवसितश्रुत**

११. गमिकश्रुत　　　१२. अगमिकश्रुत

१३. अंगप्रविष्टश्रुत　　१४. अनंगप्रविष्टश्रुत

पांच ज्ञानों में दूसरा ज्ञान है श्रुतज्ञान। शब्द, संकेत आदि द्रव्यश्रुत के सहयोग से दूसरों को समझाने में समर्थ ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा जाता है। उसके चौदह भेद हैं—

अक्षरश्रुत

जो कुछ कहना है, उसे अक्षरों के माध्यम से निरूपित करना। अक्षर ज्ञान करने का साधन है। यहां उसी को ज्ञान माना गया है। यह साधन में साध्य का आरोपण है।

अनक्षरश्रुत

मुंह, भौं, अंगुली आदि के विकार या संकेत द्वारा अपने भाव प्रकट करना। इसमें भी साधन को साध्य माना गया है।

संज्ञिश्रुत

समनस्क प्राणी का श्रुत।

असंज्ञिश्रुत

विना मन वाले प्राणी का श्रुत।

सम्यक्श्रुत

सम्यक्दृष्टि का श्रुत, मोक्ष साधना में सहायक श्रुत।

मिथ्याश्रुत

मिथ्यादृष्टि का श्रुत, मोक्ष साधना में बाधक श्रुत।

सादिश्रुत

जिस श्रुतज्ञान की आदि हो।

अनादिश्रुत

जिस श्रुतज्ञान की आदि न हो।

सपर्यवसितश्रुत

जिस श्रुतज्ञान का अन्त होने वाला हो।

अपर्यवसितश्रुत

जिस श्रुतज्ञान का अन्त होने वाला न हो।

शब्दात्मक रचना की अपेक्षा श्रुत सादि-सान्त होता है और सत्य के रूप में या प्रवाह के रूप में अनादि-अनन्त।

गमिकश्रुत

जैसे बारहवां अंग दृष्टिवाद। इसमें आलापक पाठ—सरीखे पाठ होते हैं। किसी प्रसंग का कुछ वर्णन विस्तार से किया जाता है और उसके बाद पूर्वोक्त पाठ की भुलावण देते हुए 'सेसं तहेव भाणियव्वं' इस वाक्यांश के द्वारा पाठ पूरा कर दिया जाता है। इस प्रकार एक सूत्र पाठ का सम्बन्ध दूसरे सूत्र पाठ से जुड़ा रहता है।

अगमिकश्रुत

जिसमें पाठ सरीखे न हों।

अंगप्रविष्टश्रुत

गणधरों के रचे हुए आगम (बारह अंग), जैसे—आचार, सूत्रकृत आदि।

अनंगप्रविष्ट

गणधरों के अतिरिक्त अन्य आचार्यों द्वारा रचे हुए ग्रन्थ।

श्रुतज्ञान के ये चौदह प्रकार विवक्षा के आधार पर किए गए हैं। मलतः श्रुतज्ञान वही है, जो दूसरों को समझाने में सहायक बनता है।

१४. आगम के दो प्रकार हैं—

१. अंगप्रविष्ट २. अंगबाह्य

तीर्थंकर अपनी साधना के समय पूरी तरह से आत्मलक्षी होते हैं। साधनाकाल में वे न किसी को उपदेश देते हैं, न दीक्षा देते हैं और न किसी धर्मसंघ का संचालन करते हैं। केवलज्ञान की उपलब्धि होते ही

वे समवसरण में प्रवचन करते हैं। उनका प्रवचन किसी निश्चित बिन्दु पर नहीं होता। उन्हें जो कुछ कहना होता है, वे मुक्तभाव से बोलते हैं। तीर्थंकरों के प्रवचन सूत्रशैली में नहीं होते। वे विस्तृत रूप से अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। इस दृष्टि से उनके प्रवचन अर्थागम कहलाते हैं।

तीर्थंकरों की वाणी का ग्रहण, आकलन और संपादन करते हैं गणधर। गणधरों द्वारा संकलित अर्हत्‌वाणी सूत्रागम कहलाती है। अर्हत्‌वाणी के आधार पर गणधर सूत्र रूप में जिन आगमों का संकलन करते हैं, वे आगम अंगप्रविष्ट कहलाते हैं। अंगप्रविष्ट आगमों की संख्या बारह है। इसलिए उन्हें द्वादशांगी कहा जाता है।

अंगप्रविष्ट आगमों को आधार बनाकर कुछ विशिष्टज्ञानी आचार्य नये सूत्रों की रचना करते हैं, वे अंगबाह्य कहलाते हैं।

जैन वाङ्मय में अंगप्रविष्ट आगमों का विशेष स्थान रहा है। उनको नियत श्रुत माना गया है और अंगबाह्य आगमों को अनियत श्रुत। अंगप्रविष्ट आगम स्वतः प्रमाण माने जाते हैं। अंगबाह्य आगमों की प्रामाणिकता अंगप्रविष्ट आगमों पर आधारित है।

१५. अंगप्रविष्ट (द्वादशांगी) के बारह प्रकार हैं—

१. आचारांग — **७. उपासकदशा**
२. सूत्रकृतांग — **८. अंतकृतदशा**
३. स्थानांग — **९. अनुत्तरोपपातिकदशा**
४. समवायांग — **१०. प्रश्नव्याकरण**
५. भगवती — **११. विपाकश्रुत**
६. ज्ञाताधर्मकथा — **१२. दृष्टिवाद**

चौदहवें बोल में यह बताया जा चुका है कि तीर्थंकरों द्वारा अर्थ रूप में कहे गए और गणधरों द्वारा सूत्र रूप में गुंथे हुए आगम अंगप्रविष्ट कहलाते हैं। अंगप्रविष्ट आगम बारह हैं। इस दृष्टि से इन्हें द्वादशांगी भी कहा जाता है।

प्राचीनकाल में आगम लिपिबद्ध नहीं थे। वे मौखिक परम्परा से ही आगे से आगे संक्रान्त होते थे। भगवान महावीर के निर्वाण के बाद

एक हजार वर्ष तक आगम लिखे नहीं गए। इस काल में बार-बार दुष्काल पड़े। दुष्काल के कारण एक देश से दूसरे देश में जाने और भिक्षा सम्बन्धी कठिनाइयों से जूझने में साधुओं के स्वाध्याय का क्रम शिथिल हो गया। इससे कण्ठस्थ आगमज्ञान की विस्मृति होने लगी। कुछ आचार्यों का यह अभिमत है कि भगवान महावीर के निर्वाण के बाद एक हजार वर्ष में चौदह पूर्वों का विच्छेद हो गया। उस समय एक भी पूर्व को पूरी तरह से जानने वाला कोई साधु नहीं बचा। चौदह पूर्व दृष्टिवाद आगम के अंतर्भूत थे। ऐसा माना जाता है कि चौदह पूर्वों का ज्ञान पढ़ाने से नहीं आता। इस ज्ञान की अपनी तकनीक होती है। उसकी हम वर्तमान के कम्प्यूटर यंत्र के साथ तुलना कर सकते हैं। अन्तर्मुहूर्त में चौदह पूर्वों को सीखने और उनका प्रत्यावर्तन करने की क्षमता आचार्य स्थूलिभद्र के साथ विच्छिन्न हो गई।

आचारांग आदि ग्यारह अंगों में भी समय-समय पर हुई वाचनाओं के मध्य जोड़-तोड़ का क्रम चलता रहा है, ऐसा माना जा सकता है। आचारांग के दूसरे श्रुतस्कन्ध की रचना बाद में हुई, यह भी एक मान्यता है। इसी प्रकार अन्य आगमों में भी कुछ परिवर्तन होते रहे हैं। देश, काल सम्बन्धी विविध कठिनाइयों और परिवर्तनों के बावजूद द्वादशांगी के ग्यारह अंग आज काफी अच्छे रूप में उपलब्ध हैं, यह विशेष बात है।

१६. अंगबाह्य (उपांग) के बारह प्रकार हैं—

१. औपपातिक	**७. सूर्यप्रज्ञप्ति**
२. राजप्रश्नीय	**८. कल्पिका (निरयावलिका)**
३. जीवाजीवाभिगम	**९. कल्पावतंसिका**
४. प्रज्ञापना	**१०. पुष्पिका**
५. जंबद्वीपप्रज्ञप्ति	**११. पुष्पचूलिका**
६. चन्द्रप्रज्ञप्ति	**१२. वृष्णिदशा**

मूल चार हैं—

१. दशवैकालिक	**३. नन्दी**
२. उत्तराध्ययन	**४. अनुयोगद्वार**

छेद चार हैं—

१. निशीथ	३. बृहत्कल्प
२. व्यवहार	४. दशाश्रुतस्कन्ध

आवश्यक सूत्र छह विभाग वाला है--

१. सामायिक	४. प्रतिक्रमण
२. चतुर्विशतिस्तव	५. कायोत्सर्ग
३. वन्दना	६. प्रत्याख्यान

'जैन आगम' भारतीय प्राच्य विद्या का अक्षय भण्डार है। जैन आगमों में जीवन और जगत् से संबंधित इतने विविध विषय हैं कि एक-एक आगम पर कई व्यक्ति थीसिस लिख सकते हैं। जैन आगमों का मूल भाग 'द्वादशांगी' नाम से प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त जितने आगम हैं, उनका वर्गीकरण उपांग, मूल, छेद, आवश्यक, प्रकीर्णक आदि के रूप में है। प्रस्तुत बोल में उपांग, मूल, छेद और आवश्यक सूत्र का संकलन किया गया है।

उपांग का प्राचीन नाम अंगबाह्य था। उत्तरवर्ती वर्गीकरण में अंगबाह्य के स्थान पर उपांग नाम का उल्लेख हुआ है। यदि अंग-बाह्य आगमों के लिए सामान्यतः उपांग शब्द का प्रयोग होता तो उपांग, मूल, छेद, प्रकीर्णक आदि विभाग करने की अपेक्षा ही नहीं रहती।

अंगश्रुत बारह हैं और उपांगश्रुत भी बारह हैं। इस संख्या की समानता को ध्यान में रखकर प्राचीन आचार्यों ने अंग और उपांग श्रुत की सम्बन्ध-योजना भी की है। जैसे—

आचारांग	औपपातिक
सूत्रकृतांग	राजप्रश्नीय
स्थानांग	जीवाजीवाभिगम आदि।

दिगम्बर साहित्य में उपांग शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। श्वेताम्बर साहित्य में उपांग शब्द का प्रचलन है, वह श्रुतपुरुष की कल्पना के साथ जुड़ा हुआ है, ऐसा प्रतीत होता है। शरीर में सिर, ग्रीवा, हाथ, पैर आदि मुख्य अंगों के रूप में अंगप्रविष्ट आगम और

कान, आंख, नाक आदि उपांगों के रूप में उपांग आगमों की संगति बिठाई गई है। अंग और उपांग श्रुत की सम्बन्ध-योजना का निश्चित आधार प्राप्त होने पर भी इनमें प्रतिपादित विषयों की भिन्नता के आधार पर इस सम्बन्ध में गंभीर शोध की जरूरत है।

१७. प्रत्याख्यान के दस प्रकार हैं—

१. नवकारसी	**६. निर्विगय**
२. प्रहर	**७. आयम्बिल**
३. पुरिमार्ध	**८. उपवास (चउत्थभत्त)**
४. एकाशन	**९. दिवसचरिम**
५. एकस्थान	**१०. अभिग्रह**

प्रत्याख्यान का अर्थ है छोड़ना। वस्तु और काल की अपेक्षा से प्रत्याख्यान के अनेक प्रकार हो सकते हैं। भगवती सूत्र में दस प्रत्याख्यानों की चर्चा है। वहां अतिक्रान्त, अनाक्रान्त, कोटिसहित, नियंत्रित, सागार, अनागार, परिमाणकृत, निरवशेष, संकेत और अद्धा—इन प्रत्याख्यानों को सर्वउत्तरगुण प्रत्याख्यान के रूप में व्याख्यात किया है। वर्तमान में प्रचलित दस प्रत्याख्यानों का रूप भगवती में निर्दिष्ट दस प्रत्याख्यानों से भिन्न है। इस बोल में इन्हीं प्रत्याख्यानों का ग्रहण किया गया है। ये प्रत्याख्यान एक प्रकार की तपस्या है। इस अनुष्ठान को पूरा करने में दस दिन का समय लगता है।

नवकारसी

यह सबसे छोटी तपस्या है। इसका गुणात्मक नाम कुछ भी नहीं है। इसका स्वरूप है—सूर्योदय से लेकर ४८ मिनट तक कुछ भी खाना नहीं, पीना भी नहीं। समय संपन्न होने पर नमस्कार मंत्र का स्मरण कर इसको पूरा किया जाता है, इस दृष्टि से इसका नाम नमस्कार-संहिता रखा गया है।

प्रहर

दिन के एक चौथाई भाग को प्रहर कहा जाता है। उतने समय तक खाद्य-पेय पदार्थों का उपयोग नहीं किया जाता।

पुरिमाध

दिन का आधा भाग अर्थात् प्रथम दो प्रहर के काल तक खान-पान का परित्याग करना, आधा दिन या पुरिमार्ध कहलाता है।

एकाशन

दिन में एक स्थान पर बैठकर एक बार से अधिक भोजन नहीं करना।

एकस्थान

दिन में एक समय एक आसन में एक बार से अधिक भोजन नहीं करना। इसमें शरीर का संकोच-विकोच करना भी वर्जित है।

निर्विगय

दिन में एक समय, एक बार से अधिक भोजन नहीं करना। भोजन में दूध, दही आदि सभी विकृतियों (गरिष्ठ पदार्थों) का परिहार करना। छाछ, रोटी, चने जैसे पदार्थों के अतिरिक्त सरस पदार्थों का सेवन नहीं करना।

आयंबिल

दिन में एक समय, एक बार, केवल एक धान्य के अतिरिक्त कुछ नहीं खाना। उसमें नमक, मसाले, घी आदि कुछ भी नहीं होना चाहिए।

उपवास

एक दिन के लिए पानी के अतिरिक्त सब प्रकार के खाद्य-पेय पदार्थों का परिहार करना। यह तिविहार उपवास का क्रम है। चउविहार उपवास में पानी भी नहीं पिया जाता। आगम साहित्य में उपवास के लिए 'चउत्थभत्त' शब्द अधिक काम में आता है।

दिवसचरिम

एक घण्टा दिन रहते-रहते भोजन-पानी से निवृत्त होना, दूसरे दिन सूर्योदय तक कुछ भी नहीं खाना।

अभिग्रह

विशेष प्रतिज्ञा की संपूर्ति होने से पहले भोजन नहीं करना।

दस प्रत्याख्यान का यह क्रम व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों प्रकार से चलता है।

१८. व्यवहार के पांच प्रकार हैं—

१. आगम	**४. धारणा**
२. श्रुत	**५. जीत**
३. आज्ञा	

भगवान महावीर तथा उत्तरवर्ती आचार्यों ने संघ-व्यवस्था को सम्यग् प्रकार से संचालित करने के लिए नई दृष्टि दी। मुनि के सामने करणीय और अकरणीय का प्रश्न उपस्थित होने पर उस दृष्टि के अनुसार काम करने का निर्देश दिया गया है। आगमों में उस दृष्टि के लिए 'व्यवहार' शब्द का प्रयोग हुआ है। जिनके द्वारा व्यवहार का संचालन होता है, वे व्यक्ति भी व्यवहार कहलाते हैं।

आगम-व्यवहार

व्यवहार के संचालन में पहला स्थान आगम-पुरुष का है। आगम पुरुष का अर्थ है विशिष्टज्ञानी पुरुष। केवलज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, चतुर्दशपूर्वधर, और दशपूर्वधर—ये पांच प्रकार के ज्ञानी आगम-पुरुष कहलाते हैं। साधना या व्यवस्था के प्रसंग में संदेह या उलझन उपस्थित होने पर आगम-पुरुष के निर्देशानुसार व्यवहार करने का नाम आगम-व्यवहार है।

श्रुत-व्यवहार

बृहत्कल्प, व्यवहार आदि शास्त्रों के ज्ञाता आचार्यों द्वारा प्रवर्तित व्यवहार श्रुत-व्यवहार कहलाता है। आगम-पुरुष की अनुपस्थिति में संघीय व्यवस्था के संचालन का आधार श्रुत-व्यवहार होता है। जो मुनि उक्त सूत्रों का गहराई से अवगाहन कर चुका है, वह प्रायश्चित्त आदि का विधान करता है।

आज्ञा-व्यवहार

दो गीतार्थ आचार्य भिन्न-भिन्न देशों में विहार कर रहे हों। वे परस्पर मिलने में असमर्थ हों और प्रायश्चित्त आदि के सम्बन्ध में उन दोनों में परामर्श जरूरी हो। ऐसी स्थिति में एक आचार्य आलोच्य अर्थ को गूढ पदों में आबद्ध कर अपने शिष्यों को बता दूसरे आचार्य के पास भेजते हैं। वे गीतार्थ आचार्य उन्हीं शिष्यों के साथ गूढ पदों में ही उत्तर प्रेषित कर देते हैं। इस प्रकार की प्रक्रिया आज्ञा-व्यवहार कहलाती है।

धारणा-व्यवहार

किसी गीतार्थ आचार्य ने किसी समय किसी शिष्य को जिस परिस्थिति में जो प्रायश्चित्त दिया अथवा कोई अन्य प्रवृत्ति की। उसे याद रखकर वैसी परिस्थिति में उस प्रायश्चित्त-विधि या प्रवृत्ति का प्रयोग करना धारणा-व्यवहार है। आगम-पुरुष, श्रुत-पुरुष और आज्ञा-पुरुष को अनुपस्थिति में ही धारणा-व्यवहार का उपयोग किया जाता है।

जीत-व्यवहार

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आधार पर निष्पक्ष बुद्धि से किसी भी प्रायश्चित्त या प्रवृत्ति को मान्य अथवा अमान्य स्थापित करना जीत व्यवहार है।

किसी समय किसी अपराध के लिए आचार्यों ने एक प्रकार के प्रायश्चित्त का विधान किया। दूसरे समय में देश, काल, धृति, संहनन, बल आदि देखकर उसी अपराध के लिए दूसरे प्रकार के प्रायश्चित्त का विधान किया जाता है, इसे जीत-व्यवहार कहा जाता है।

साधु-संघ की व्यवस्था में पांच व्यवहारों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके माध्यम से संघ को जागरूक और विशुद्ध रखने का प्रयत्न किया जाता है।

१६. नय के सात प्रकार हैं—

तीन द्रव्यार्थिक—

१. **नैगम** २. **संग्रह** ३. **व्यवहार**

चार पर्यायार्थिक—

१. ऋजुसूत्र
२. शब्द
३. समभिरूढ़
४. एवंभूत

अनन्तधर्मात्मक वस्तु के विवक्षित धर्म का ग्रहण और अन्य धर्मों का खण्डन न करने वाले विचार को नय कहा जाता है। नय के सात प्रकार बतलाए गए हैं। नय का प्रतिपादन अनेक दृष्टियों से किया जा सकता है। प्रस्तुत बोल में द्रव्य, पर्याय आदि के आधार पर वस्तु-प्रतिपादन की दृष्टियों को नय कहा गया है।

संसार में अनन्त वस्तुएं हैं। प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म—अवस्थाएं होती हैं। जब भी किसी वस्तु का प्रतिपादन किया जाता है, तब एक साथ उन अनन्त धर्मों के बारे में कुछ भी कहना संभव नहीं होता। क्योंकि वाणी में अभिव्यक्ति की क्षमता इतनी ही है। कुछ धर्मों का प्रतिपादन करने से वस्तु का बोध अधूरा रहता है। इस अधूरे अवबोध को पूर्णता तक पहुंचाने के लिए नय के प्रयोग की सार्थकता है।

मनुष्य का सारा व्यवहार वाणी पर आधारित है। जो कुछ बोला जाता है, वह सारा नय का प्रयोग होता है। शब्दों से उसे नय कहा जाए या नहीं, वचन की सारी विवक्षाएं नय के द्वारा ही नियन्त्रित होती हैं। जैसे कोई व्यक्ति कवि है, लेखक है, वक्ता है, दार्शनिक है, समालोचक है और भी बहुत कुछ है। किन्तु जिस समय किसी एक गुण के बारे में बताया जाता है उस समय अन्य सभी गुण उपेक्षित हो जाते हैं। अन्यथा विवेचन का आधार ही नहीं बनता। यहां प्रश्न हो सकता है कि शेष सब गुण कहां गए? उन गुणों का लोप नहीं होता है। पर वर्तमान में जिस गुण की उपयोगिता दृष्टिगत होती है, उसे ही वाणी का विषय बनाया जाता है।

वस्तु का बोध करने का जहां तक प्रश्न है, समग्रता से हो सकता है. पर उस अखंड वस्तु के आधार पर व्यवहार नहीं चलता। इसलिए उसका उपयोग खण्डशः किया जाता है। यह खण्डशः उपयोग या प्रतिपादन की पद्धति ही तो नय है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके द्वारा दूसरे के विचारों को उसके अभिप्राय के अनुरूप ही समझने का प्रयत्न किया जाता है।

नय कितने हो सकते हैं ? इस प्रश्न का कोई निश्चित्त उत्तर नहीं है। क्योंकि वस्तु के जितने धर्म होते हैं और उन पर विचार करने या वोलने के जितने तरीके होते हैं, वे सभी नय कहलाते हैं। इस क्रम से नय अनन्त हो सकते हैं। किन्तु उनका वर्गीकरण किया जाए तो वे सब सात नयों में समाविष्ट हो जाते हैं। सात नय इस प्रकार हैं—

नैगम नय

वस्तु के काल्पनिक और वास्तविक सब धर्मों को स्वीकार करने वाला विचार नैगम नय है। यह सबसे अधिक स्थूल और व्यावहारिक नय है। सत् और असत् का कोई परहेज इसे नहीं है जैसे—चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के लिए कहा जाता है कि आज भगवान महावीर का जन्म-दिन है। इसी प्रकार मकान का निर्माण करवाते समय कहना कि यह शयन-कक्ष है, यह रसोई घर है आदि। ये वाक्य काल्पनिक हैं। क्योंकि महावीर का जन्मदिन तो हजारों वर्ष पहले हुआ था। इसी प्रकार शयनकक्ष या रसोईघर तो तब होंगे, जब उनको उस रूप में काम में लिया जाएगा। किन्तु उपर्युक्त वचनप्रयोग सम्मत प्रयोग है। क्योंकि नैगम नय अतीत और भविष्य दोनों को वर्तमान में आरोपित कर लोक व्यवहार का संचालन करता है।

संग्रह नय

नैगम नय की विस्तारवादी विचारधारा को एकदम संक्षिप्त और सीमित करने वाला विचार संग्रहनय है। यह सत् मात्र को स्वीकार करता है, किन्तु असत् इसका विषय नहीं है। एक दृष्टि से यह अद्वैत-वादी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है। इसके अनुसार सारा संसार एक है। क्योंकि संसार के सभी पदार्थ सत्ता से जुड़े हुए हैं। इसे नहीं माना जाए तो उनका अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा। इसीलिए सत्-अस्तित्ववादी विचारधारा समग्र विश्व को एक ही नजरिए से देखती है।

व्यवहार नय

संग्रहनय द्वारा परिकल्पित एक तत्त्व में व्यवहारोपयोगी भेद की

कल्पना करने वाला विचार व्यवहारनय है। इसके अनुसार संग्रहनय की विचारधारा अव्यावहारिक है। क्योंकि इससे जगत् का समूचा व्यवहार रुक जाता है। इसलिए यह नय मानता है कि जो सत् है, वह द्रव्य और पर्याय—इन दो भेदों में बंटा हुआ है। जो द्रव्य है, वह धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि छह भागों में विभक्त है। जो पर्याय है, वह भी सहभावी और क्रमभावी—इस वर्गीकरण के द्वारा ही वस्तु का बोध करने में निमित्त बनती है।

उपर्युक्त तीनों नयों को द्रव्यार्थिक नय माना जाता है। क्योंकि ये द्रव्य को मुख्य मान कर काम करते हैं। इनके बाद जो चार नय हैं, वे पर्याय के आधार पर तत्त्व का निरूपण करते हैं। इसलिए उन्हें पर्यायार्थिक नय कहा जाता है।

ऋजुसूत्र नय

वस्तु की वर्तमान पर्याय को व्याख्यायित करने वाली विचारधारा ऋजुसूत्र नय है। इसके अनुसार द्रव्य का कोई मूल्य नहीं है। क्योंकि वह हमारे काम में नहीं आ सकता। जो तत्त्व काम में न आए, जिसका कोई उपयोग न हो, उसे मानने से क्या लाभ ? हमारा समूचा व्यवहार व्यक्ति या वस्तु की वर्तमान अवस्था के आधार पर चलता है। तत्त्व-बोध का सबसे ऋजु दृष्टिकोण यही है। इसलिए वर्तमान में कोई व्यक्ति साधु है तो उसे साधु माना जाए। अतीत या भविष्य की कल्पना के आधार पर उसे साधु मानने में कोई औचित्य नहीं है।

शब्द नय

लिंग, वचन आदि के आधार पर शब्द की भिन्नता का बोध कराने वाली विचारधारा का नाम शब्द नय है। यह ऋजुसूत्र नय से भी आगे बढ़ जाता है। उसके अनुसार वस्तु की वर्तमान पर्याय का ग्रहण सत्य है। किन्तु यह कहता है कि वर्तमान पर्याय भी शब्द नय के द्वारा ही अपने अस्तित्व का सही बोध करा सकती है, जैसे—लेखक और लेखिका दो शब्द हैं। दोनों लेखन-पर्याय का बोध करवाते हैं। किन्तु इनमें कौन पुरुष है और कौन स्त्री ? यह ज्ञान शब्दनय के द्वारा होता है। इसी प्रकार एक वचन और बहुवचन आदि का बोध भी इसी नय के आधार

पर होता है।

समभिरूढ़ नय

पर्यायवाची शब्दों के भेद से अर्थ में भेद करने वाली विचारधारा का नाम समभिरूढ़नय है। इसके अनुसार प्रत्येक वस्तु स्वरूपनिष्ठ होती है। इस नय की दृष्टि से कोई भी शब्द किसी का पर्यायवाची नहीं होता। कोशकारों ने पर्यायवाचक शब्दों का जो संकलन किया है, वह गलत है। क्योंकि प्रत्येक शब्द स्वतंत्र अर्थ का बोधक होता है, जैसे—भिक्षु, तपस्वी, साधु, मुमुक्षु आदि शब्द एकार्थक हैं। किन्तु समभिरूढ़ नय कहता है कि भिक्षा करने वाला भिक्षु होता है। तपस्या करने वाला तपस्वी होता है। साधना करने वाला साधु होता है और मोक्ष की इच्छा करने वाला मुमुक्षु होता है। साधु होने मात्र से ही कोई भिक्षु या तपस्वी नहीं हो सकता। जिस प्रकार एक वस्तु का दूसरी वस्तु में संक्रमण नहीं होता, वैसे ही एक अर्थ का दूसरे अर्थ में संक्रमण नहीं हो सकता। यह नय पूर्ववर्ती नयों से विशुद्ध है और वस्तु के स्वभावगत वास्तविक धर्म का ग्रहण करता है।

एवंभूत नय

क्रिया में परिणत अर्थ को ही उस शब्द का वाच्य मानने वाली विचारधारा एवंभूत नय है। यह नय शब्द की व्युत्पत्ति और निरुक्त तक पहुंचकर भी रुकता नहीं है। यह कहता है कि जिस शब्द की जो व्युत्पत्ति है, वर्तमान में वही क्रिया हो रही हो तो वहां उस शब्द का प्रयोग सार्थक है, अन्यथा नहीं। जैसे भिक्षु भिक्षा करते समय ही भिक्षु होता है। तपस्वी तपस्या करते समय ही तपस्वी होता है। परिव्राजक परिव्रज्या करते समय ही परिव्राजक होता है। ध्यान करते समय कोई मुनि प्रवचनकार नहीं होता और प्रवचन करते समय कोई मुनि ध्यानी नहीं होता। इस नय के अनुसार अतीत और भविष्य की क्रिया के आधार पर शब्द का प्रयोग गलत हो जाता है। केवल वर्तमान काल और वर्तमान क्रिया ही इस नय का विषय बनती है।

वस्तु-बोध की अनन्त दृष्टियों का उपर्युक्त सात दृष्टियों में वर्गी-

करण करने के कारण नय सात ही माने गए हैं। यह वर्गीकरण पूर्णरूप से व्यावहारिक है और इसके द्वारा जगत् का व्यवहार सम्यक् रूप से संचालित हो सकता है।

२०. नय के दो प्रकार हैं—

१. निश्चय २. व्यवहार

किसी भी तत्त्व को समझने या समझाने की दो दृष्टियां होती हैं। कोई व्यक्ति कुछ समझना चाहता हो या दूसरों को समझाना चाहता हो, उसे इन्हीं दो दृष्टियों का सहारा खोजना होगा। पहली दृष्टि वास्तविक है और दूसरी काल्पनिक है। पहली दृष्टि को निश्चयनय या परमार्थ दृष्टि कहा जाता है और दूसरी दृष्टि व्यवहारनय अथवा व्यवहार दृष्टि शब्दों से पहचानी जाती है। इस बोल में इन्हीं दो नयों का उल्लेख है।

निश्चय नय का विषय है यथार्थ का प्रतिपादन। वर्तमान में कोई वस्तु उस रूप में अभिव्यक्त न हो, किन्तु वास्तव में उसकी सत्ता है तो उसका प्रतिपादन निश्चय दृष्टि से ही किया जा सकता है।

व्यवहारनय ऊपर-ऊपर से विचार करता है। वह लोक-मान्यता के आधार पर तत्त्व का प्रतिपादन करता है। वास्तविकता न होने पर भी लोकमान्यता में जिस वस्तु का अस्खलित रूप से प्रचलन हो, उसे दार्शनिक भूमिका पर भी नकारा नहीं जा सकता। इस दृष्टि से तत्त्व के प्रतिपादन में व्यवहारनय की भी अपनी मूल्यवत्ता है।

निश्चयनय और व्यवहारनय की प्रतिपादन-शैली को यहां कुछ उदाहरणों के माध्यम से स्पष्ट किया जा रहा है—

भौंरे में कौन-सा वर्ण (रंग) है ? यह एक प्रश्न है। इस प्रश्न का आबालगोपाल प्रसिद्ध समाधान यह है कि वह काला होता है। जहां कहीं कालेपन को समझाया जाता है, वहां भौंरे को ही प्रतीक रूप में प्रस्तुत किया जाता है। यह व्यवहार दृष्टि है।

परमार्थ दृष्टि के अनुसार भौंरा काला नहीं, पांच वर्ण वाला होता है। क्योंकि कोई भी बादर (स्थूल) पुद्‌गल-स्कन्ध पंच वर्णात्मक ही होता है। यह तथ्य असत् मालूम पड़ता है, पर है सत्य। इस सत्य

का ग्रहण निश्चयनय की दृष्टि से ही किया जा सकता है।

आकाश नीला है, यह एक दृष्टिकोण है। क्योंकि वह ऐसा ही दिखाई देता है। किन्तु सच्चाई यह है कि आकाश में कोई रंग होता ही नहीं, वह अरूप होता है। इस उदाहरण में भी पहला दृष्टिकोण व्यवहारनय का है और दूसरा निश्चयनय का।

एक सैनिक युद्ध में जाता है, हाथ में शस्त्र उठाता है और शत्रु सेना को परास्त कर देता है। व्यवहार दृष्टि के अनुसार यह धर्म है। क्योंकि राष्ट्रधर्म भी लोकमान्यता में केवल धर्म के नाम से चलता है। किन्तु निश्चयनय इसे धर्म नहीं कहेगा। उसके अनुसार धर्म वहीं होगा, जहां अहिंसा है। किसी भी दृष्टि से की गई हिंसा, हिंसा ही है। वह व्यवहार्य तो हो सकती है, किन्तु उसे धर्म का जामा नहीं पहनाया जा सकता।

इस प्रकार सैकड़ों उदाहरण हैं, जो निश्चयनय और व्यवहारनय की भेदरेखा को स्पष्ट करते हैं। इन दोनों ही नयों का हमारे जीवन में उपयोग है, इसलिए अपने-अपने स्थान पर दोनों का मूल्य है।

२१. निक्षेप के चार प्रकार हैं—

१. नाम **३. द्रव्य**

२. स्थापना **४. भाव**

हमें किसी पदार्थ को समझना या ग्रहण करना हो तो उसके लिए शब्द का प्रयोग करते हैं। क्योंकि हमारे पास वस्तु की पहचान कराने का माध्यम शब्द ही है। अर्थ और शब्द में परस्पर वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध-स्थापना का उद्देश्य है व्यवहार का निर्वाह। अकेला व्यक्ति अव्यावहारिक होता है। उसे न बोलने की अपेक्षा है और न सुनने की। किन्तु जब वह समूह में जीता है और सापेक्ष होकर जीता है तो उसे व्यवहार चलाने के लिए किसी संकेत पद्धति का विकास करना ही होता है। संकेत काल में जिस वस्तु को समझाने या समझाने के लिए जिस शब्द को गढा जाता है, वह उसी अर्थ का प्रतिनिधित्व करता रहे, तब तो काम चलता रहता है। किन्तु आगे चलकर उसके अर्थ का विस्तार हो जाता है। वैसे भी हर शब्द अनेक

अर्थों का वाचक होता है। इस स्थिति में हम किस शब्द के द्वारा किस अर्थ को लक्ष्य कर अपनी बात कह रहे हैं, इसे दूसरा कैसे समझ सकता है। शब्द प्रयोग को लेकर उत्पन्न हुई इस समस्या के समाधान हेतु निक्षेप पद्धति अस्तित्व में आई। निक्षेप का अर्थ है—प्रस्तुत अर्थ का बोध देने वाली शब्द-संरचना। प्रकारान्तर से निक्षेप को इस प्रकार भी परिभाषित किया जा सकता है—'प्रस्तुतार्थबोधाय अर्हदादिशब्दानां नामादिभेदेन निधानं निक्षेपः'। प्रासंगिक अर्थ का बोध कराने के लिए अर्हत् आदि शब्दों का नाम, स्थापना आदि भेदों के द्वारा न्यास करना निक्षेप कहलाता है। इसके द्वारा अर्थ का शब्द में आरोपण कर इष्ट अर्थ का बोध किया जाता है।

सामान्यतः हर शब्द अनेकार्थ होता है। उसके कुछ अर्थ प्रासंगिक होते हैं और कुछ अप्रासंगिक। प्रासंगिक अर्थ का ग्रहण और अप्रासंगिक अर्थों का परिहार करने के लिए व्यक्ति शब्द के सब अर्थों को अपने दिमाग में स्थापित करता है। ऐसा किए बिना कोई भी शब्द अपने प्रयोजन को पूरा नहीं कर सकता। जिस शब्द के जितने अर्थों का ज्ञान होता है, उतने ही निक्षेप हो सकते हैं। पर संक्षेप में उनका वर्गीकरण किया जाए तो निक्षेप के चार प्रकार होते हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव।

नाम निक्षेप

शब्द के मूल अर्थ की अपेक्षा किए विना ही किसी व्यक्ति या वस्तु का इच्छानुसार नामकरण करना नाम निक्षेप है। इसमें जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया, लक्षण आदि निमित्तों की अपेक्षा नहीं की जाती, जैसे—किसी अनक्षर व्यक्ति का 'उपाध्याय' नाम रखना।

स्थापना निक्षेप

मूल अर्थ से शून्य वस्तु को उसी के अभिप्राय से स्थापित करना स्थापना निक्षेप है, जैसे—किसी प्रतिमा में उपाध्याय की स्थापना करना।

द्रव्य निक्षेप

भूत और भावी अवस्था के कारण व्यक्ति या वस्तु को उस अभिप्राय

से पहचान करना द्रव्य निक्षेप है, जैसे—जो व्यक्ति पहले उपाध्याय रह चुका अथवा भविष्य में उपाध्याय बनने वाला है, उस व्यक्ति को उपाध्याय कहना।

उपयोगशून्यता की अवस्था में भी द्रव्य निक्षेप का प्रयोग होता है, जैसे—अध्यापन कार्य में प्रवृत्त होने पर भी अध्यवसाय-शून्यता की स्थिति में अध्यापक 'द्रव्य अध्यापक' है।

भाव निक्षेप

जिस व्यक्ति या वस्तु का जो स्वरूप है, वर्तमान में वह उसी स्वरूप को प्राप्त है अर्थात् उसी पर्याय में परिणत है, वह भाव निक्षेप है। इसमें किसी प्रकार का उपचार नहीं होता। इसलिए वह वास्तविक निक्षेप है; जैसे—अध्यापन की क्रिया में प्रवृत्त व्यक्ति को अध्यापक कहना।

अध्यापक की भांति ही अर्हत् शब्द के भी निक्षेप किए जा सकते हैं—

नाम अर्हत्—अर्हत् कुमार नाम का व्यक्ति।

स्थापना अर्हत्—अर्हत् की प्रतिमा।

द्रव्य अर्हत्—जो अतीत में तीर्थंकर हो चुके तथा भविष्य में तीर्थंकर होने वाले हैं।

भाव अर्हत्—केवल ज्ञान उपलब्ध कर चतुर्विध धर्मसंघ की स्थापना करने वाले तीर्थंकर।

इस प्रकार निक्षेप का प्रयोजन है—भाव और भाषा में परस्पर संगति बिठाना। ऐसा हुए बिना न तो अर्थ का बोध हो सकता है और न ही अप्रासंगिक अर्थों का परिहार किया जा सकता है। संक्षेप में यह माना जा सकता है कि किसी भी अर्थ के सूचक शब्द के पीछे उसके अर्थ की स्थिति को स्पष्ट करने वाले विशेषण का प्रयोग निक्षेप है। उसके द्वारा व्यक्ति या वस्तु के बारे में दिमाग में एक स्पष्ट रेखा-चित्र बन जाता है और उसे उस व्यक्ति या वस्तु की पहचान करने या कराने में सुविधा हो जाती है।

२२. स्याद्वाद के सात प्रकार (सप्तभंगी) हैं—

१. स्यात् अस्ति
२. स्यात् नास्ति
३. स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति
४. स्यात् अवक्तव्य
५. स्यात् अस्ति, स्यात् अवक्तव्य
६. स्यात् नास्ति, स्यात् अवक्तव्य
७. स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अवक्तव्य

स्याद्वाद और अनेकान्तवाद—जैनदर्शन के दो विशिष्ट शब्द हैं। अनेकान्त सिद्धान्त है और स्याद्वाद उसके निरूपण की पद्धति है। अनेकान्त का अर्थ है—एक वस्तु में अनेक विरोधी धर्मों का स्वीकार। स्याद्वाद का अर्थ है—विभिन्न अपेक्षाओं से वस्तुगत अनेक धर्मों का प्रतिपादन। इसका शाब्दिक अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है—स्यात्—कथंचित् अर्थात् किसी अपेक्षा से, वाद अर्थात् बोलना। पिछले बोलों में विवेचित नय, निक्षेप आदि स्याद्वाद के ही अंग हैं। इन सबको समझने और प्रयोग में लेने से तत्त्वचिन्तन और व्यवहार-निर्वहण—इन दोनों कामों में बहुत सुविधा हो जाती है।

प्रस्तुत बोल में स्याद्वाद के सात प्रकार, भंग या विकल्प बतलाए गए हैं—

१ स्यात् अस्ति
२. स्यात् नास्ति
३. स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति
४. स्यात् अवक्तव्य
५. स्यात् अस्ति, स्यात् अवक्तव्य
६. स्यात् नास्ति, स्यात् अवक्तव्य
७. स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अवक्तव्य

स्यात् अस्ति

स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से हर वस्तु का अस्तित्व होता है। संसार का कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है, जो अस्तित्ववान् नहीं है। क्योंकि अस्तित्व के अभाव में वह और होगा ही क्या? किन्तु अस्तित्व के साथ-साथ स्यात् शब्द इस बात का द्योतक है कि उसमें अस्तित्व धर्म तो है ही, नास्तित्व भी है। उसे नहीं समझा जाएगा तो वस्तु का बोध पूर्ण नहीं होगा।

स्यात् नास्ति

जिस प्रकार प्रत्येक वस्तु अहने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से अस्तित्ववान् है, वैसे ही वह दूसरे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से नहीं भी है। नास्तित्व के बिना अस्तित्व हो ही नहीं सकता। अस्तित्व और नास्तित्व के सहावस्थान—एक साथ उपस्थित रहने को एक उदाहरण से समझा जा सकता है, जैसे—हमारे सामने एक घड़ा है। उसमें अस्ति धर्म और नास्ति धर्म की एक साथ उपस्थिति इस प्रकार घटित होती है—

द्रव्य—घड़ा मिट्टी का है, सोने का नहीं है।

क्षेत्र—घड़ा अहमदाबाद का बना हुआ है, कलकत्ता का नहीं है।

काल—घड़ा शीतकाल में बना हुआ है, गर्मी में बना हुआ नहीं है।

भाव—घड़ा पानी रखने का और लाल रंग का है। वह घी रखने का और काले रंग का नहीं है।

स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति

वस्तु में अस्तित्व धर्म भी है, नास्तित्व धर्म भी है तो क्या ये दोनों साथ-साथ नहीं रहते हैं? यदि इनका सहअस्तित्व है तो एक ही धर्म का प्रतिपादन क्यों? इस प्रश्न के उत्तर में तीसरा विकल्प यह बनता है कि उसमें किसी अपेक्षा से अस्तित्व है और किसी अपेक्षा से नास्तित्व है। इस कथन के साथ ही एक समस्या और खड़ी हो जाती है कि वस्तु में अस्तित्व एवं नास्तित्व एक साथ रहते हैं, फिर इनका प्रतिपादन क्रमिक क्यों? पहले अस्तित्व और उसके बाद नास्तित्व क्यों? क्या जिस काल में अस्तित्व है, उस काल में नास्तित्व नहीं है? यदि है तो फिर इनका एक साथ प्रतिपादन क्यों नहीं? इस प्रश्न के समाधान ने चौथा भंग उत्पन्न किया—स्यात् अवक्तव्य।

स्यात् अवक्तव्य

वस्तु में अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्म एक साथ रहते हैं। इन सहावस्थिति को अभिव्यक्त करने वाला शब्द है—अवक्तव्य। इसका अर्थ है—वाणी का अविषय। एक समय में एक ही शब्द बोला जाता

है और एक शब्द के द्वारा एक ही अर्थ का प्रतिपादन किया जा सकता है। इस स्थिति में एक समय में एक साथ दो अर्थों को अभिव्यक्ति देने के लिए 'अवक्तव्य' यह सांकेतिक शब्द गढ़ा गया। इसके द्वारा एक साथ दोनों अर्थों का बोध हो जाता है।

सापेक्ष दृष्टि से वस्तु को प्रतिपादित करने के लिए मुख्य रूप से ये चार भंग या विकल्प काम में आते हैं। शेष तीनों विकल्प इनके संयोग से बनते हैं। मूलतः विकल्प चार ही हैं। पर दार्शनिक जगत् में सप्तभंगी प्रसिद्ध है। इस दृष्टि से स्याद्‌वाद के सात प्रकार बतलाए गए हैं।

स्याद्‌वाद शब्द जैनों का है। किन्तु तत्त्व निरूपण की दृष्टि से यह सबको मान्य हो सकता है। स्याद्‌वाद का मूल उत्स तीर्थंकरों की वाणी है। इसको दार्शनिक रूप उत्तरवर्ती आचार्यों ने दिया है। स्याद्‌वाद जितना दार्शनिक है, उतना ही व्यावहारिक है। इसलिए किसी भी क्षेत्र में इसे उपेक्षित नहीं किया जा सकता।

२३. नास्ति (अभाव) के चार प्रकार हैं—

१. प्राग् अभाव **३. इतरेतर अभाव**
२. प्रध्वंस अभाव **४. अत्यन्त अभाव**

संसार का हर पदार्थ अस्तित्ववान् होता है। वैसे ही नास्तित्ववान् भी होता है। वर्तमान पर्याय का उसमें अस्तित्व है, शेष सब पर्यायों का नास्तित्व है। अस्तित्व और नास्तित्व का मिला-जुला रूप ही वस्तु है। नास्ति के लिए दार्शनिक ग्रन्थों में अभाव शब्द का प्रयोग अधिक मिलता है।

किसी भी वस्तु के स्वरूप को सिद्ध करने के लिए भाव का जितना महत्त्वपूर्ण स्थान है, अभाव का भी उससे कम नहीं है। भाव के बिना वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। वैसे ही अभाव के बिना भी नहीं होती। यदि हम वस्तु के अभाव रूप को स्वीकार न करें तो उसमें किसी प्रकार के परिवर्तन की बात घटित नहीं हो सकती। परिवर्तन का अर्थ है—एक ही आश्रय में भाव और अभाव की उपस्थिति। संसार का कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है, जो सदा एक सरीखा रहे। वह बनता

भी है, मिटता भी है, पर उसकी सत्ता समाप्त नहीं होती। अभाव को स्वीकार किए बिना बनने और मिटने वाली बात समझ में नहीं आती।

यदि अभाव को न माना जाए तो वस्तु में किसी प्रकार का विकार नहीं होगा। उसका अन्त नहीं होगा। वह सर्वात्मक बन जाएगी और चेतन, अचेतन का भेद समाप्त हो जाएगा। इसलिए अभाव के चार प्रकार बतलाए गए हैं—

प्राग् अभाव

कोई भी कार्य अपनी उत्पत्ति से पहले नहीं होता। इसका अर्थ यह हुआ कि उत्पत्ति से पहले कारण में कार्य का अभाव होता है। इसका नाम प्राग् अभाव है, जैसे—दूध में दही का न होना। इस अभाव की आदि तो नहीं है, पर दूध से दही बनते ही उसका अन्त हो जाता है। इस दृष्टि से यह अनादि सान्त है।

प्रध्वंस अभाव

कार्य की उत्पत्ति के बाद उसके विनाश से होने वाले अभाव का नाम प्रध्वंस अभाव है। जैसे—दही से छाछ बना लेने पर छाछ में दही का न होना। इस अभाव की आदि तो है, पर इसका अन्त नहीं होता।

इतरेतर अभाव

एक द्रव्य की पर्याय में दूसरे द्रव्य की पर्याय का न होना इतरेतर अभाव है। इसे अन्योन्याभाव भी कहा जाता है। जैसे—स्तम्भ में कुम्भ का अभाव है और कुम्भ में स्तम्भ का अभाव है। इस अभाव की आदि भी है और अन्त भी है।

अत्यन्त अभाव

एक वस्तु का स्वरूप दूसरी वस्तु से सर्वथा भिन्न होता है। किसी भी समय वह वस्तु दूसरी वस्तु के स्वरूप को प्राप्त नहीं हो सकती। इसका नाम अत्यन्त अभाव है। जैसे—रूपादि के समवाय पुद्गल में ज्ञानादि समवाय जीव का अत्यन्त अभाव है। यदि इस अभाव को न माना जाए तो किसी भी वस्तु का असाधारण रूप में कथन नहीं हो

सकता।

उक्त चार अभावों को अस्वीकार कर दिया जाए तो विश्व की व्यवस्था का संचालन नहीं होगा। प्राग् अभाव के अस्वीकार से कभी किसी नए पर्याय की उत्पत्ति नहीं होगी। प्रध्वंस अभाव के अभाव में जो कार्य हमारे सामने है, उसका कभी अन्त नहीं होगा। इतरेतर अभाव के अस्वीकार कर देने से सब वस्तुओं में सबका अस्तित्व हो जाएगा और अत्यन्त अभाव को न मानने से सब वस्तुएं एक ही रूप में अवस्थित हो जायेंगी। इसलिए भाव की भांति अभाव भी वस्तु का धर्म है, यह कथन युक्तिसंगत है।

२४. समवाय के पांच प्रकार हैं—

१. काल
२. स्वभाव
३. कर्म
४. पुरुषार्थ
५. नियति

चौवीसवें बोल में समवाय की चर्चा है। समवाय का अर्थ है समूह। जैनदर्शन के अनुसार किसी भी कार्य की निष्पत्ति में एक कारण-समूह का योग रहता है, जो समवाय कहलाता है। समवाय के पांच प्रकार हैं—काल, स्वभाव, कर्म, पुरुषार्थ और नियति। कुछ लोग केवल कर्म या पुरुषार्थ को ही स्वीकार करते हैं। किन्तु देखा यह जाता है कि कर्म और पुरुषार्थ के साथ कुछ अन्य तत्त्व भी अपेक्षित हैं। उन्हें गौण कर मनुष्य वांछित अर्थ की सिद्धि नहीं कर सकता। इस दृष्टि से समवाय के पांच प्रकारों की अर्थवत्ता है।

काल

काल नियामक तत्त्व है। इसके विना कार्य निष्पन्न नहीं होता। आदमी कितना ही पुरुषार्थ करे, काल-लब्धि का योग होने से ही उसका परिणाम आता है। दूध से दही वनता है और दही से मक्खन। दही और मक्खन की निष्पत्ति में जितना कालक्षेप होना चाहिए, उसके होने से ही वे चीजें तैयार हो सकती हैं। औषधि का सेवन करते ही स्वास्थ्य लाभ चाहने वाले रोगी को हताश होना पड़ता है। क्योंकि

कोई भी दवा निश्चित काल के बाद ही अपना प्रभाव दिखाती है। इसी प्रकार बीज का वपन करते ही वृक्ष नहीं बनता और वृक्ष बनते ही उसके फल नहीं लगते।

स्वभाव

जिस वस्तु का जैसा स्वभाव है, वह उसी रूप में काम करती है। आम की गुठली बोने से ही आम पैदा हो सकता है। नीम के पेड़ में कभी आम के फल नहीं लगते। दीर्घ काल और प्रबल पुरुषार्थ का योग होने पर भी कोई वस्तु अपने स्वभाव को छोड़कर अन्य रूप में परिणत नहीं हो सकती।

कर्म

कर्म पुरुषार्थ की फलश्रुति है। इसे दूसरे शब्दों में भाग्य भी कहा जा सकता है। जब तक कर्म की अनुकूलता नहीं होती है, वांछित काम पूरा नहीं होता। एक महिला एक ही समय में दो बच्चों को जन्म देती है। उन्हें एक पर्यावरण में रखा जाता है और उनकी शिक्षा-दीक्षा भी साथ-साथ होती है। दोनों बच्चे समान रूप से पुरुषार्थ करते हैं। फिर भी एक विद्वान् बन जाता है और दूसरा मूर्ख रह जाता है। यह सब कर्म का खेल है।

पुरुषार्थ

कर्म और पुरुषार्थ एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। प्रथम क्षण का पुरुषार्थ पुरुषार्थ कहलाता है और वही दूसरे क्षण में कर्म बन जाता है। कर्म अच्छे होने पर भी पुरुषार्थ के बिना काम सिद्ध नहीं होता। खेत में अच्छी वर्षा होने, हल और बीज पास में होने पर भी जब तक किसान पुरुषार्थ कर बीजों का वपन नहीं करता है, खेत अंकुरित नहीं हो सकता। भोजन सामने पड़ा रहने पर भी हाथ और मुंह का पुरुषार्थ किए बिना पेट नहीं भरता।

नियति

नियति का अर्थ है भवितव्यता का होनहार। जिस घटना को जिस रूप में घटित होना है, लाख प्रयत्न करने पर भी वह टल नहीं सकती।

इसका नाम है—नियति। दर्शन की भाषा में यह निकाचित कर्म बन्ध की स्थिति है। इसका सर्जक पुरुषार्थ है। पर इसकी क्रियान्विति में पुरुषार्थ का कोई हस्तक्षेप नहीं होता। सही दिशा में पर्याप्त पुरुषार्थ करने पर भी सही परिणाम नहीं आता है तो उसे नियति पर ही छोड़ना पड़ता है।

हर काम की सफलता में इन पांचों समवायों का योग नितान्त अपेक्षित है। यदि इनमें से कोई एक तत्त्व भी असहयोग कर देता है तो बनता-बनता काम रुक जाता है।

इस समूचे प्रतिपाद्य को एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है—एक किसान खेती करना चाहता है। उसके लिए उसे पांचों समवायों की अनुकूलता अपेक्षित होगी। अन्यथा वह अपने कृषि-कर्म में सफल नहीं हो सकता, जैसे—

काल—वर्षा का समय अथवा जिस समय सिंचाई के साधन सुलभ हों। वह भी दो-चार महीनों का समय।

स्वभाव—गेहूं या बाजरे की फसल के लिए इन चीजों को निष्पन्न करने वाले बीज।

कर्म—संचित शुभ कर्म अथवा भाग्य की अनुकूलता।

पुरुषार्थ—जमीन को सम करने से लेकर फसल निकालने तक में किया जाने वाला श्रम।

नियति—उपर्युक्त चारों अनुकूलताओं की स्थिति में भी अति-वृष्टि, अनावृष्टि, टिड्डी, चूहों आदि के उपद्रव का अभाव।

इन पांच कारणों में एक भी कारण नहीं होता है तो खेती करने का उद्देश्य फलित नहीं होता। खेती की तरह किसी भी कार्य की निष्पत्ति में इन पांचों की उपस्थिति अनिवार्य मानी गई है।

२५. कारण के दो प्रकार हैं—

१. उपादान (परिणामी) २. निमित्त (सहकारी)

कारण वह होता है, जो कार्य की निष्पत्ति में निश्चित्त रूप से अपेक्षित हो। इस तथ्य को इस भाषा में भी कहा जा सकता है कि जिसके बिना

कार्य की निष्पत्ति न हो, वह कारण है। कार्य और कारण में अविनाभावी सम्बन्ध है। दर्शनशास्त्र में अनेक प्रकार के सम्बन्ध माने गये हैं, जैसे—स्वस्वामीभाव, जन्यजनकभाव, धार्यधारकभाव, भोज्यभोजकभाव, वाह्यवाहकभाव, आश्रयआश्रयीभाव, कार्यकारणभाव आदि।

मुख्य रूप से कारण के दो प्रकार माने गये हैं—उपादान कारण और निमित्त कारण। प्रकारान्तर से इन्हें परिणामी कारण और सहकारी कारण भी कहा जाता है।

जो कारण स्वयं कार्यरूप में परिणत हो जाता है, वह उपादान कारण या परिणामी कारण कहलाता है। जैसे—मिट्टी, घड़े का उपादान कारण है। कपास, वस्त्र का उपादान कारण है। सोना, आभूषण का उपादान कारण है। दूध, मावा का उपादान कारण है। आटा, रोटी का उपादान कारण है। इस प्रकार जितने पदार्थ पहले कारण रूप में दृष्टिगत होते हैं और बाद में कार्यरूप में परिणत हो जाते हैं, वे सभी उपादान कारण कहलाते हैं।

उपादान मूलभूत कारण है। उसको कार्य रूप में परिणत करते समय जिन अन्य कारणों का सहयोग रहता है, वे सब निमित्त या सहकारी कारण माने गए हैं। निमित्त कारण मूलभूत तत्त्व नहीं है। फिर भी कार्य की निष्पन्नता में इसका महत्त्व कम नहीं है। बहुत बार तो ऐसा होता है कि उपादान कारण होने पर भी निमित्त कारण के अभाव में बनता-बनता काम रुक जाता है। मिट्टी तैयार पड़ी है, किन्तु चक्र, सूत्र आदि का योग न हो तो घड़े की निष्पत्ति कभी भी नहीं हो सकती। यही स्थिति वस्त्र, आभूषण आदि की है। निमित्त कारण के समुचित योग बिना कार्य नहीं हो पाता। इसलिए कार्य की निष्पत्ति में उपादान और निमित्त दोनों ही कारणों की मूल्यवत्ता प्रमाणित होती है।

कार्यकारणवाद के इस सन्दर्भ में एक प्रश्न उपस्थित होता है कि कारण, कार्यरूप में परिणत होता है कर्त्ता के सहयोग से। यदि कर्त्ता सक्रिय न हो तो हजारों वर्ष तक कारण, कारण ही बना रहेगा। उस स्थिति में कर्त्ता को क्या माना जाए? इस प्रश्न के समाधान में दार्शनिक विचारधारा यही रही है कि कर्त्ता भी निमित्त कारण ही है। यदि उसे उपादान मान लिया जाए तो उसके अभाव में कोई

कार्य हो ही नहीं सकता। बिना बोये ही अंकुरित होने वाले तृण, घास आदि कार्यों में किसी भी कर्त्ता का कर्तृत्व नहीं रहता। जिन-जिन कार्यों की निष्पत्ति में कर्त्ता की सक्रिय भूमिका रही है, वहां उसे निमित्त कारण ही माना जा सकता है, जैसे—मिट्टी घड़े का उपादान कारण है; चक्र, सूत्र आदि उसके निमित्त कारण हैं और कुम्भकार उसके बनने में निमित्त बनता है, इसलिए वह भी निमित्त कारण ही है। इस दृष्टि से कारण दो ही माने गए हैं।

२६. **पर्युपासना के दस लाभ हैं—**

१. श्रवण	६. अनाश्रव
२. ज्ञान	७. तप
३. विज्ञान	८. व्यवदान
४. प्रत्याख्यान	९. अक्रिया
५. संयम	१०. सिद्धि

जीवन एक यात्रा है। इस यात्रा के अनेक पड़ाव हैं। कुछ पड़ाव अन्तिम होते हैं और कुछ अग्रिम पड़ावों से जुड़े हुए होते हैं। इन पड़ावों का बोध करने के लिए शिष्य गुरु की उपासना करता है। गुरु की पर्युपासना से उसे यात्रा के आदि बिन्दु से लेकर अन्तिम बिन्दु तक का अवबोध हो जाता है। उन बिन्दुओं को दस प्रतीकों से समझा जा सकता है—

श्रवण

गुरु की उपासना करने वाला अपूर्व तत्त्व को सुनता है।

ज्ञान

तत्त्व को सुनने से व्यक्ति की ज्ञान-चेतना का जागरण होता है।

विज्ञान

विशिष्ट ज्ञान का नाम है विज्ञान। इससे ज्ञात तत्त्व की मीमांसा और प्रत्यक्ष अनुभूति होने लगती है। इस अनुभव से उसको हेय और उपादेय का सम्यक् बोध होता है। इसके द्वारा व्यक्ति अंधकार से

प्रकाश की ओर गतिशील बनता है तथा उसका विवेक जागृत होता है।

प्रत्याख्यान

प्रत्याख्यान का अर्थ है छोड़ना। यह विवेचनात्मक ज्ञान की परिणति है। हेय और उपादेय का पूर्ण बोध होने के बाद व्यक्ति के जीवन से हेय अपने आप छूटने लगता है।

संयम

संयम का अर्थ है प्रवृत्ति का निरोध या विषय का प्रत्याख्यान। इसकी निष्पत्ति है आत्मरमण। आत्मरमण होने से चेतना ज्ञाताभाव और द्रष्टाभाव से संयुक्त हो जाती है।

अनाश्रव—संवर

संयम साधना है। उसकी सिद्धि है संवर। जितना-जितना संयम बढ़ता है, संवर का उतना ही विस्तार होता जाता है।

तप

संवर के सधने से तप की चेतना का जागरण होता है। इससे ऊर्जा का विकास होता है और भीतर जमे हुए संस्कारों में प्रकम्पन होता है।

व्यवदान

व्यवदान का अर्थ है निर्जरण। यह तपस्या की निष्पत्ति है। तप के द्वारा जिन संस्कारों में प्रकम्पन शुरू हो जाता है, उनका भीतर रहना मुश्किल हो जाता है। संस्कार बाहर आने के लिए चेतना से विलग होते हैं। यही व्यवदान या निर्जरा है।

अक्रिया

अक्रिया का अर्थ है अकर्म। अकर्म होने की स्थिति में प्रवृत्ति या चंचलता समाप्त हो जाती है। यह स्थिति तब बनती है जब भीतर घुसे हुए विजातीय तत्त्व (संस्कार) पूरी तरह से बाहर आ जाते हैं।

सिद्धि

सिद्धि का अर्थ है सफलता। यह इस यात्रा का आखिरी पड़ाव है। इसमें ज्ञाताभाव और द्रष्टाभाव स्थिर हो जाते हैं। इस स्थिति को प्राप्त कर लेने के बाद जन्म और मृत्यु की परम्परा अपने आप छूट जाती है।

एक दृष्टि से इन दस बिन्दुओं का स्वतन्त्र अस्तित्व है। हर बिन्दु अपने आप में मूल्यवान् है। दूसरी दृष्टि से इनमें पांच बिन्दु कारण हैं और पांच कार्य हैं। जैसे—

श्रवण कारण है और ज्ञान उसका कार्य है।
विज्ञान कारण है और प्रत्याख्यान उसका कार्य है।
संयम कारण है और अनाश्रव उसका कार्य है।
तप कारण है और व्यवदान उसका कार्य है।
अक्रिया कारण है और सिद्धि उसका कार्य है।

दूसरी अपेक्षा से विचार किया जाए तो इन दसों का आपस में सम्बन्ध है। एक से दूसरा, दूसरे से तीसरा और तीसरे से चौथा—इस प्रकार सब एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। इन सबका समन्वित रूप ही जीवनयात्रा का आखिरी विराम है।

परिशिष्ट

कालूतत्त्वशतक

प्रथम वर्ग

१. राशि के दो प्रकार हैं—

१. जीव राशि
२. अजीव राशि

२. जीव के दो प्रकार हैं—

१. सिद्ध
२. संसारी

३. संसारी जीव के दो-दो प्रकार हैं—

१. व्यवहार राशि
२. अव्यवहार राशि

१. भव्य
२. अभव्य

१. त्रस
२. स्थावर

१. सूक्ष्म
२. बादर

१. पर्याप्त
२. अपर्याप्त

४. जीव के तीन-तीन प्रकार हैं—

१. स्त्री
२. पुरुष
३. नपुंसक

१. असंयमी
२. संयमासंयमी
३. संयमी

१. संज्ञी
२. असंज्ञी
३. नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी

५. जीव के चार प्रकार हैं—

१. नारक
२. तिर्यंच
३. मनुष्य
४. देव

६. जीव के पांच प्रकार हैं—

१. एकेन्द्रिय
२. द्वीन्द्रिय
३. त्रीन्द्रिय
४. चतुरिन्द्रिय
५. पंचेन्द्रिय

७. जीव के छह प्रकार हैं—

१. पृथ्वीकायिक	४. वायुकायिक
२. अप्कायिक	५. वनस्पतिकायिक
३. तेजस्कायिक	६. त्रसकायिक

८. दण्डक के चौबीस प्रकार हैं—

१. सात नारकी का दण्डक

२-११ भवनपति देवों के दण्डक दस—असुरकुमार, नागकुमार आदि।

१२. पृथ्वीकाय का दण्डक	२०. तिर्यंच पंचेन्द्रिय का दण्डक
१३. अप्काय का दण्डक	२१. मनुष्य पंचेन्द्रिय का दण्डक
१४. तेजस्काय का दण्डक	२२. व्यन्तर देवों का दण्डक
१५. वायुकाय का दण्डक	२३. ज्योतिष्क देवों का दण्डक
१६. वनस्पतिकाय का दण्डक	२४. वैमानिक देवों का दण्डक
१७. द्वीन्द्रिय का दण्डक	
१८. त्रीन्द्रिय का दण्डक	
१९. चतुरिन्द्रिय का दण्डक	

९. शरीर के पांच प्रकार हैं—

१. औदारिक	४. तैजस
२. वैक्रिय	५. कार्मण
३. आहारक	

१०. इन्द्रिय के पांच प्रकार हैं—

१. श्रोत्रेन्द्रिय	४. रसनेन्द्रिय
२. चक्षुरिन्द्रिय	५. स्पर्शनेन्द्रिय
३. घ्राणेन्द्रिय	

प्रत्येक इन्द्रिय के दो-दो प्रकार हैं—

१. द्रव्येन्द्रिय	२. भावेन्द्रिय

द्रव्येन्द्रिय के दो प्रकार हैं—

१. निर्वृत्ति	२. उपकरण

भावेन्द्रिय के दो प्रकार हैं—

१. लब्धि
२. उपयोग

११. पर्याप्ति के छह प्रकार हैं—

१. आहार
२. शरीर
३. इन्द्रिय
४. श्वासोच्छ्वास
५. भाषा
६. मन

१२. प्राण के दस प्रकार हैं—

१. श्रोत्रेन्द्रिय प्राण
२. चक्षुरिन्द्रिय प्राण
३. घ्राणेन्द्रिय प्राण
४. रसनेन्द्रिय प्राण
५. स्पर्शनेन्द्रिय प्राण
६. मनोबल प्राण
७. वचनबल प्राण
८. कायबल प्राण
९. श्वासोच्छ्वास प्राण
१०. आयुष्य प्राण

१३. योग के तीन प्रकार हैं—

१. मनोयोग
२. वचनयोग
३. काययोग

मनोयोग के चार प्रकार हैं—

१. सत्य मनोयोग
२. असत्य मनोयोग
३. मिश्र मनोयोग
४. व्यवहार मनोयोग

वचनयोग के चार प्रकार हैं—

१. सत्य वचनयोग
२. असत्य वचनयोग
३. मिश्र वचनयोग
४. व्यवहार वचनयोग

काययोग के सात प्रकार हैं—

१. औदारिक काययोग
२. औदारिकमिश्र काययोग
३. वैक्रिय काययोग
४. वैक्रियमिश्र काययोग
५. आहारक काययोग
६. आहारकमिश्र काययोग
७. कार्मण काययोग

१४. उपयोग के दो प्रकार हैं—

१. साकार उपयोग
२. अनाकार उपयोग

साकार उपयोग के आठ प्रकार हैं—

पांच ज्ञान—

१. मतिज्ञान
२. श्रुतज्ञान
३. अवधिज्ञान
४. मनःपर्यवज्ञान
५. केवलज्ञान

तीन अज्ञान—

१. मति अज्ञान
२. श्रुत अज्ञान
३. विभंग अज्ञान

अनाकार उपयोग के चार प्रकार हैं—

१. चक्षु दर्शन
२. अचक्षु दर्शन
३. अवधि दर्शन
४. केवल दर्शन

१५. आत्मा के आठ प्रकार हैं—

१. द्रव्य
२. कषाय
३. योग
४. उपयोग
५. ज्ञान
६. दर्शन
७. चारित्र
८. वीर्य

१६. गुणस्थान के चौदह प्रकार हैं—

१. मिथ्यादृष्टि
२. सास्वादन सम्यग्दृष्टि
३. मिश्रदृष्टि
४. अविरति सम्यग्दृष्टि
५. देशविरति
६. प्रमत्तसंयत
७. अप्रमत्तसंयत
८. निवृत्तिबादर
९. अनिवृत्तिबादर
१०. सूक्ष्मसम्पराय
११. उपशान्तमोह
१२. क्षीणमोह
१३. सयोगीकेवली
१४. अयोगीकेवली

१७. भाव के पांच प्रकार हैं—

१. औदयिक
२. औपशमिक
३. क्षायिक
४. क्षायोपशमिक
५. पारिणामिक

१८. लेश्या के छह प्रकार हैं—

१. कृष्ण
२. नील
३. कापोत
४. तेजः
५. पद्म
६. शुक्ल

१९. मिथ्यात्व के पांच प्रकार हैं—

१. आभिग्रहिक
२. अनाभिग्रहिक
३. आभिनिवेशिक
४. अनाभोगिक
५. सांशयिक

२०. व्यावहारिक मिथ्यात्व के दस प्रकार हैं—

१. अधर्म में धर्म संज्ञा
२. धर्म में अधर्म संज्ञा
३. अमार्ग में मार्ग संज्ञा
४. मार्ग में अमार्ग संज्ञा
५. अजीव में जीव संज्ञा
६. जीव में अजीव संज्ञा
७. असाधु में साधु संज्ञा
८. साधु में असाधु संज्ञा
९. अमुक्त में मुक्त संज्ञा
१०. मुक्त में अमुक्त संज्ञा

२१. कषाय के सोलह प्रकार हैं—

अनन्तानुबन्धी—क्रोध, मान, माया, लोभ
अप्रत्याख्यान—क्रोध, मान, माया, लोभ
प्रत्याख्यान—क्रोध, मान, माया, लोभ
संज्वलन—क्रोध, मान, माया, लोभ

२२. कषाय के सोलह उदाहरण हैं—

अनन्तानुबन्धी क्रोध—पत्थर की रेखा के समान
अनन्तानुबन्धी मान—पत्थर के स्तंभ के समान
अनन्तानुबन्धी माया—बांस की जड़ के समान
अनन्तानुबन्धी लोभ—कृमि-रेशम के रंग के समान
अप्रत्याख्यान क्रोध—भूमि की रेखा के समान
अप्रत्याख्यान मान—अस्थि के स्तंभ के समान
अप्रत्याख्यान माया—मेंढे के सींग के समान
अप्रत्याख्यान लोभ—कीचड़ के रंग के समान

पांच ज्ञान—

१. मतिज्ञान
२. श्रुतज्ञान
३. अवधिज्ञान
४. मन:पर्यवज्ञान
५. केवलज्ञान

तीन अज्ञान—

१. मति अज्ञान
२. श्रुत अज्ञान
३. विभंग अज्ञान

अनाकार उपयोग के चार प्रकार हैं—

१. चक्षु दर्शन
२. अचक्षु दर्शन
३. अवधि दर्शन
४. केवल दर्शन

१५. आत्मा के आठ प्रकार हैं—

१. द्रव्य
२. कषाय
३. योग
४. उपयोग
५. ज्ञान
६. दर्शन
७. चारित्र
८. वीर्य

१६. गुणस्थान के चौदह प्रकार हैं—

१. मिथ्यादृष्टि
२. सास्वादन सम्यग्दृष्टि
३. मिश्रदृष्टि
४. अविरति सम्यग्दृष्टि
५. देशविरति
६. प्रमत्तसंयत
७. अप्रमत्तसंयत
८. निवृत्तिबादर
९. अनिवृत्तिबादर
१०. सूक्ष्मसम्पराय
११. उपशान्तमोह
१२. क्षीणमोह
१३. सयोगीकेवली
१४. अयोगीकेवली

१७. भाव के पांच प्रकार हैं—

१. औदयिक
२. औपशमिक
३. क्षायिक
४. क्षायोपशमिक
५. पारिणामिक

१८. लेश्या के छह प्रकार हैं—

१. कृष्ण
२. नील
३. कापोत
४. तेजः
५. पद्म
६. शुक्ल

१९. मिथ्यात्व के पांच प्रकार हैं—

१. आभिग्रहिक
२. अनाभिग्रहिक
३. आभिनिवेशिक
४. अनाभोगिक
५. सांशयिक

२०. व्यावहारिक मिथ्यात्व के दस प्रकार हैं—

१. अधर्म में धर्म संज्ञा
२. धर्म में अधर्म संज्ञा
३. अमार्ग में मार्ग संज्ञा
४. मार्ग में अमार्ग संज्ञा
५. अजीव में जीव संज्ञा
६. जीव में अजीव संज्ञा
७. असाधु में साधु संज्ञा
८. साधु में असाधु संज्ञा
९. अमुक्त में मुक्त संज्ञा
१०. मुक्त में अमुक्त संज्ञा

२१. कषाय के सोलह प्रकार हैं—

अनन्तानुबन्धी—क्रोध, मान, माया, लोभ
अप्रत्याख्यान—क्रोध, मान, माया, लोभ
प्रत्याख्यान—क्रोध, मान, माया, लोभ
संज्वलन—क्रोध, मान, माया, लोभ

२२. कषाय के सोलह उदाहरण हैं—

अनन्तानुबन्धी क्रोध—पत्थर की रेखा के समान
अनन्तानुबन्धी मान—पत्थर के स्तंभ के समान
अनन्तानुबन्धी माया—वांस की जड़ के समान
अनन्तानुबन्धी लोभ—कृमि-रेशम के रंग के समान
अप्रत्याख्यान क्रोध—भूमि की रेखा के समान
अप्रत्याख्यान मान—अस्थि के स्तंभ के समान
अप्रत्याख्यान माया—मेंढे के सींग के समान
अप्रत्याख्यान लोभ—कीचड़ के रंग के समान

प्रत्याख्यान क्रोध—बालू की रेखा के समान

प्रत्याख्यान मान—काष्ठ के स्तंभ के समान

प्रत्याख्यान माया—चलते बैल के मूत्र की धारा के समान

प्रत्याख्यान लोभ—गाड़ी के खंजन के समान

संज्वलन क्रोध—जल की रेखा के समान

संज्वलन मान—लता के स्तंभ के समान

संज्वलन माया—छिलते हुए बांस की छाल के समान

संज्वलन लोभ—हल्दी के रंग के समान

२३. कषाय से होने वाले अभिघात के चार प्रकार हैं—

१. अनन्तानुबंधी चतुष्क से सम्यक्त्व का अभिघात

२. अप्रत्याख्यान चतुष्क से देशव्रत का अभिघात

३. प्रत्याख्यान चतुष्क से महाव्रत का अभिघात

४. संज्वलन चतुष्क से यथाख्यात चारित्र का अभिघात

२४. नोकषाय के नौ प्रकार हैं—

१. हास्य
२. रति
३. अरति
४. भय
५. शोक
६. जुगुप्सा
७. स्त्रीवेद
७. पुरुषवेद
९. नपुंसकवेद

२५. चारित्र के पांच प्रकार हैं—

१. सामायिक चारित्र
२. छेदोपस्थापनीय चारित्र
३. परिहारविशुद्धि चारित्र
४. सूक्ष्मसम्पराय चारित्र
५. यथाख्यात चारित्र

—०—

द्वितीय वर्ग

१. अजीव के दो प्रकार हैं—

१. अरूपी
२. रूपी

अरूपी अजीव के चार प्रकार हैं—

१. धर्मास्तिकाय
२. अधर्मास्तिकाय
३. आकाशास्तिकाय
४. काल

रूपी अजीव का एक प्रकार है—

१. पुद्‌गलास्तिकाय

२. पुद्‌गल के पांच संस्थान हैं—

१. वृत्त (मोदक का आकार)
२. परिमंडल (चूड़ी का आकार)
३. त्रिकोण
४. चतुष्कोण
५. आयत

३. जीव के प्रयोग में आने वाले पुद्‌गलस्कन्धों की आठ वर्गणाए हैं—

१. औदारिक वर्गणा
२. वैक्रिय वर्गणा
३. आहारक वर्गणा
४. तैजस वर्गणा
५. कार्मण वर्गणा
६. मनोवर्गणा
७. वचन वर्गणा
८. श्वासोच्छ्‌वास वर्गणा

४. पुद्‌गल के चार लक्षण हैं—

१. स्पर्श २. रस ३. गन्ध ४. वर्ण

५. इन्द्रियों के तेईस विषय हैं—

श्रोत्र इन्द्रिय के तीन विषय हैं—

१. जीव शब्द २. अजीव शब्द ३. मिश्र शब्द

चक्षु इन्द्रिय के पांच विषय हैं—

१. कृष्ण
२. नील
३. रक्त
४. पीत
५. श्वेत

घ्राण इन्द्रिय के दो विषय हैं—

१. सुगन्ध २. दुर्गन्ध

रसन इन्द्रिय के पांच विषय हैं—

१. तिक्त
२. कटु
३. कषाय
४. अम्ल
५. मधुर

स्पर्शन इन्द्रिय के आठ विषय हैं—

१. शीत	३. स्निग्ध	५. कर्कश	७. गुरु
२. उष्ण	४. रूक्ष	६. मृदु	८. लघु

६. **कर्म के आठ प्रकार हैं—**

१. ज्ञानावरणीय	३. वेदनीय	५. आयुष्य	७. गोत्र
२. दर्शनावरणीय	४. मोहनीय	६. नाम	८. अन्तराय

आठ कर्मों में चार घनघात्य प्रकृतियां एकान्त अशुभ हैं—

१. ज्ञानावरणीय	३. मोहनीय
२. दर्शनावरणीय	४. अन्तराय

आठ कर्मों में चार अघात्य प्रकृतियां शुभ-अशुभ दोनों हैं—

१. वेदनीय	३. गोत्र
२. नाम	४. आयुष्य

७. **कम की इकतीस उत्तर प्रकृतियां हैं—**

ज्ञानावरणीय कर्म की पांच प्रकृतियां हैं—

१. मति ज्ञानावरण	५. मनःपर्यव ज्ञानावरण
२. श्रुत ज्ञानावरण	६. केवल ज्ञानावरण
३. अवधि ज्ञानावरण	

दर्शनावरणीय कर्म की नौ प्रकृतियां हैं—

१. चक्षु दर्शनावरण	६. निद्रा-निद्रा
२. अचक्षु दर्शनावरण	७. प्रचला
३. अवधि दर्शनावरण	८. प्रचला-प्रचला
४. केवल दर्शनावरण	९. स्त्यानर्द्धि
५. निद्रा	

वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियां हैं—

१. सात वेदनीय	२. असात वेदनीय

मोहनीय कर्म की दो प्रकृतियां हैं—

१. दर्शन मोहनीय
२. चारित्र मोहनीय

आयुष्य कर्म की चार प्रकृतियां हैं—

१. नरक आयुष्य
२. तिर्यंच आयुष्य
३. मनुष्य आयुष्य
४. देव आयुष्य

नाम कर्म की दो प्रकृतियां हैं—

१. शुभ नाम
२. अशुभ नाम

गोत्र कर्म की दो प्रकृतियां हैं—

१. उच्च गोत्र
२. नीच गोत्र

अन्तराय कर्म की पांच प्रकृतियां हैं—

१. दान अन्तराय
२. लाभ अन्तराय
३. भोग अन्तराय
४. उपभोग अन्तराय
५. वीर्य अन्तराय

८. कर्म के आठ दृष्टान्त हैं—

१. ज्ञानावरणीय कर्म—आंख की पट्टी के समान
२. दर्शनावरणीय कर्म—प्रहरी के समान
३. वेदनीय कर्म—मधु लिपटी तलवार की धार के समान
४. मोहनीय कर्म—मद्यपान के समान
५. आयुष्य कर्म—बेड़ी के समान
६. नाम कर्म—चित्रकार के समान
७. गोत्र कर्म—कुम्भकार के समान
८. अन्तराय कर्म—कोषाध्यक्ष के समान

९. कर्म की दस अवस्थाएं हैं—

१. बन्ध
२. सत्ता
३. उदय
४. उदीरणा
५. उद्वर्तन
६. अपवर्तन
७. संक्रमण
८. उपशम
९. निधत्ति
१०. निकाचना

१०. **कर्म के चार कार्य हैं—**

१. आवरण
२. विकार
३. अवरोध
४. शुभाशुभ का संयोग

११. **कर्मबन्ध के चार प्रकार हैं—**

१. एक कर्म (सातवेदनीय) का बंध—ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में
२. छह कर्मों (मोहनीय और आयुष्य को छोड़कर) का बन्ध—दसवें गुणस्थान में
३. सात कर्मों (आयुष्य को छोड़कर) का बन्ध—तीसरे, आठवें और नौवें गुणस्थान में
४. सात-आठ कर्मों का बन्ध—पहले, दूसरे, चौथे, पांचवें, छठे और सातवें गुणस्थान में

१२. **कर्म बन्धन के आठ हेतु हैं—**

१. ज्ञानावरणीय कर्म—ज्ञान के प्रति असद् व्यवहार
२. दर्शनावरणीय कर्म—दर्शन के प्रति असद् व्यवहार
३. वेदनीय कर्म—दुःख देने और दुःख न देने की प्रवृत्ति
४. मोहनीय कर्म—तीव्र कषाय का प्रयोग
५. आयुष्य कर्म—
नरक आयुष्य—क्रूर—व्यवहार
तिर्यंच आयुष्य—वंचनापूर्ण व्यवहार
मनुष्य आयुष्य—ऋजु व्यवहार
देव आयुष्य—संयत व्यवहार
६. नाम कर्म—कथनी-करनी की समानता और असमानता
७. गोत्र कर्म—अहंकार और उसका विसर्जन
८. अन्तराय कर्म—किसी के कार्य में वाधा डालना

१३. **आठ कर्मों में बन्ध-कारक कर्म दो हैं—**

१. मोहनीय कर्म से अशुभ कर्म का वन्ध
२. नाम कर्म से शुभ कर्म का वन्ध

१४. क्रिया के पांच प्रकार हैं—

१. कायिकी
२. आधिकरणिकी
३. प्रादोषिकी
४. पारितापनिकी
५. प्राणातिपातक्रिया

अथवा

१. आरम्भिकी
२. पारिग्रहिकी
३. मायाप्रत्यया
४. अप्रत्याख्यान क्रिया
५. मिथ्यादर्शनप्रत्यया

१५. संज्ञा के दस प्रकार हैं—

१. आहार
२. भय
३. मैथुन
४. परिग्रह
५. क्रोध
६. मान
७. माया
८. लोभ
९. लोक (विशिष्ट या अर्जित वृत्ति)
१०. ओघ (सामान्य या नैसर्गिक वृत्ति)

१६. आहार के तीन प्रकार हैं—

१. ओज २. रोम ३. कवल

१७. जन्म के तीन प्रकार हैं—

१. गर्भ २. उपपात ३. संमूर्च्छन

१८. मरण के तीन प्रकार हैं—

१. वाल मरण
२. पंडित मरण
३. वाल-पंडित मरण

१९. अन्तराल गति के दो प्रकार हैं—

१. ऋजु गति २. वक्र गति।

२०. छद्मस्थ के दो प्रकार हैं—

१. सकषायी—सराग—दसवें गुणस्थान तक
२. अकषायी—वीतराग—ग्यारहवें, वारहवें गुणस्थान में

२१. **वीतराग के दो प्रकार हैं—**

१. छद्मस्थ वीतराग—ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थान में
२. केवली वीतराग—तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान में

२२. **बन्ध के दो प्रकार हैं—**

१. ईर्यापथिक—वीतराग के होने वाला बन्ध
२. साम्परायिक—सराग के होने वाला बन्ध

२३. **संहनन के छह प्रकार हैं—**

१. वज्रऋषभनाराच
२. ऋषभनाराच
३. नाराच
४. अर्धनाराच
५. कीलिका
६. सेवार्त

२४. **संस्थान के छह प्रकार हैं—**

१. समचतुरस्र
२. न्यग्रोधपरिमंडल
३. सादि
४. कुब्ज
५. वामन
६. हुण्डक

२५. **समुद्घात के सात प्रकार हैं—**

१. वेदना
२. कषाय
३. मारणान्तिक
४. वैक्रिय
५. तैजस
६. आहारक
७. केवली

तृतीय वर्ग

१. **तत्त्व के नौ प्रकार हैं—**

१. जीव
२. अजीव
३. पुण्य
४. पाप
५. आश्रव
६. संवर
७. निर्जरा
८. बंध
९. मोक्ष

२. **जीव के चौदह प्रकार हैं—**

सूक्ष्म एकेन्द्रिय के दो भेद—१. अपर्याप्त, २. पर्याप्त

बादर एकेन्द्रिय के दो भेद—३. अपर्याप्त, ४. पर्याप्त
द्वीन्द्रिय के दो भेद—५. अपर्याप्त, ६. पर्याप्त
त्रीन्द्रिय के दो भेद—७ अपर्याप्त, ८. पर्याप्त
चतुरिन्द्रिय के दो भेद—९. अपर्याप्त, १०. पर्याप्त
असंज्ञी पंचेन्द्रिय के दो भेद—११. अपर्याप्त, १२. पर्याप्त
संज्ञी पंचेन्द्रिय के दो भेद—१३. अपर्याप्त, १४. पर्याप्त

३. **अजीव के चौदह प्रकार हैं—**

धर्मास्तिकाय के तीन भेद—१. स्कन्ध, २. देश, ३. प्रदेश
अधर्मास्तिकाय के तीन भेद—४. स्कन्ध, ५. देश, ६. प्रदेश
आकाशास्तिकाय के तीन भेद—७. स्कन्ध, ८. देश, ९. प्रदेश
काल का एक भेद—१०. काल
पुद्गलास्तिकाय के चार भेद—११. स्कन्ध, १२. देश
१३. प्रदेश १४. परमाणु

४. **पुण्य के नौ प्रकार हैं—**

१. अन्न	४. शयन	७. वचन
२. पान	५. वस्त्र	८. काय
३. लयन	६. मन	९. नमस्कार

५. **पाप के अठारह प्रकार हैं—**

१. प्राणातिपात	७. मान	१३. अभ्याख्यान
२. मृषावाद	८. माया	१४. पैशुन्य
३. अदत्तादान	९. लोभ	१५. परपरिवाद
४. मैथुन	१०. राग	१६. रति-अरति
५. परिग्रह	११. द्वेष	१७. माया-मृषा
६. क्रोध	१२. कलह	१८. मिथ्यादर्शनशल्य

६. **आश्रव के पांच प्रकार हैं—**

१. मिथ्यात्व	३. प्रमाद	५. योग
२. अव्रत	४. कषाय	

७. **संवर के पांच प्रकार हैं—**

१. सम्यक्त्व
२. व्रत
३. अप्रमाद
४. अकषाय
५. अयोग

८. **निर्जरा के बारह प्रकार हैं—**

बाह्य ६—

१. अनशन
२. ऊनोदरी
३. भिक्षाचरी
४. रसपरित्याग
५. कायक्लेश
६. प्रतिसंलीनता

आभ्यन्तर ६—

७. प्रायश्चित्त
८. विनय
९. वैयावृत्त्य
१०. स्वाध्याय
११. ध्यान
१२. व्युत्सर्ग

९. **बन्ध के चार प्रकार हैं—**

१. प्रकृति
२. स्थिति
३. अनुभाग
४. प्रदेश

१०. **मोक्ष के चार हेतु हैं—**

१. सम्यग् दर्शन
२. सम्यक् ज्ञान
३. सम्यक् चारित्र
४. सम्यक् तप

११. **दृष्टि के तीन प्रकार हैं—**

१. सम्यग् दृष्टि
२. मिथ्या दृष्टि
३. सम्यग्-मिथ्या दृष्टि

१२. **सम्यक्त्व के पांच प्रकार हैं—**

१. औपशमिक
२. क्षायिक
३. क्षायोपशमिक
४. सास्वादन
५. वेदक

१३. **सम्यक्त्व के दो हेतु हैं—**

१. निसर्ग (सहज)
२. अधिगम (उपदेश आदि से प्राप्त)

१४. **सम्यक्त्व के पांच लक्षण हैं—**

१. शम
२. संवेग
३. निर्वेद
४. अनुकम्पा
५. आस्तिक्य

१५. **सम्यक्त्व के पांच दूषण हैं—**

१. शंका
२. कांक्षा
३. विचिकित्सा
४. परपाषण्डप्रशंसा
५. परपाषण्डपरिचय

१६. **सम्यक्त्व के पांच भूषण हैं—**

१. स्थैर्य
२. प्रभावना
३. भक्ति
४. कौशल
५. तीर्थसेवा

१७. **ज्ञान के आठ आचार हैं—**

१. काल
२. विनय
३. बहुमान
४. उपधान
५. अनिह्नवन
६. सूत्र
७. अर्थ
८. सूत्रार्थ

१८. **दर्शन के आठ आचार हैं—**

१. निःशंकिता
२. निष्कांक्षिता
३. निर्विचिकित्सा
४. अमूढ़दृष्टि
५. उपबृंहण
६. स्थिरीकरण
७. वात्सल्य
८. प्रभावना

१९. **चारित्र के आठ आचार हैं—**

पांच समिति—

१. ईर्या समिति
२. भाषा समिति
३. एषणा समिति
४. आदाननिक्षेप समिति
५. उत्सर्ग समिति

तीन गुप्ति—

६. मनोगुप्ति
७. वाक्गुप्ति
८. कायगुप्ति

२०. **स्वाध्याय के पांच प्रकार हैं—**

१. वाचना
२. प्रच्छना
३. परिवर्तना
४. अनुप्रेक्षा
५. धर्मकथा

२१. **ध्यान के चार प्रकार हैं—**

१. आर्त
२. रौद्र
३. धर्म्य
४. शुक्ल

२२. **धर्म की पहचान के पांच प्रकार हैं—**

त्याग धर्म है, भोग धर्म नहीं है।
आज्ञा धर्म है, अनाज्ञा धर्म नहीं है।
संयम धर्म है, असंयम धर्म नहीं है।
उपदेश धर्म है, बलप्रयोग धर्म नहीं है।
अनमोल धर्म है, मूल्य से प्राप्त होने वाला धर्म नहीं है।

२३. **धर्म के दो प्रकार हैं—**

१. लौकिक धर्म
२. लोकोत्तर धर्म

लौकिक धर्म के अनेक प्रकार हैं—

जैसे—परम्परा, रीतिरिवाज आदि।

लोकोत्तर धर्म के दो प्रकार हैं—

१. श्रुत धर्म
२. चारित्र धर्म

अथवा

१. संवर धर्म
२. निर्जरा धर्म

२४. **धर्म के दो प्रकार हैं—**

१. अनगार धर्म
२. अगार धर्म

अनगार धर्म (मुनि धर्म) के पांच प्रकार हैं—

१. अहिंसा महाव्रत
२. सत्य महाव्रत
३. अचौर्य महाव्रत
४. ब्रह्मचर्य महाव्रत
५. अपरिग्रह महाव्रत

अगार धर्म (श्रावक धर्म) के बारह प्रकार हैं—

पांच अणुव्रत—

१. अहिंसा अणुव्रत
२. सत्य अणुव्रत
३. अचौर्य अणुव्रत
४. ब्रह्मचर्य अणुव्रत
५. अपरिग्रह अणुव्रत

सात शिक्षाव्रत—

१. दिग्परिमाण व्रत
२. भोगोपभोगपरिमाण व्रत
३. अनर्थदण्डविरमण व्रत
४. सामायिक व्रत
५. देशावकाशिक व्रत
६. पौषधोपवास व्रत
७. यथासंविभाग व्रत

२५. **श्रमण धर्म के दस प्रकार हैं—**

१. क्षांति
२. मुक्ति
३. आर्जव
४. मार्दव
५. लाघव
६. सत्य
७. संयम
८. तप
९. त्याग (निरवद्य दान)
१०. ब्रह्मचर्य

चतुर्थ वर्ग

१. **सत् के तीन लक्षण हैं—**

१. उत्पाद
२. व्यय
३. ध्रौव्य

२. **वस्तु-बोध की चार दृष्टियां हैं—**

१. द्रव्य
२. क्षेत्र
३. काल
४. भाव

३. **द्रव्य के छह प्रकार हैं—**

१. धर्मास्तिकाय
२. अधर्मास्तिकाय
३. आकाशास्तिकाय
४. पुद्गलास्तिकाय
५. जीवास्तिकाय
६. काल

४. **छह द्रव्यों के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण—**

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय— द्रव्य मे एक द्रव्य (स्व नाम)
क्षेत्र से लोकव्यापी
काल से अनादि-अनन्त
भाव से अमूर्त
गुण से गमन एवं स्थान गुण

आकाशास्तिकाय— द्रव्य से एक द्रव्य (स्व नाम)
क्षेत्र से लोकालोकव्यापी
काल से अनादि-अनन्त
भाव से अमूर्त
गुण से अवगाहन गुण

काल— द्रव्य से अनन्त द्रव्य
क्षेत्र से समयक्षेत्रवर्ती
काल से अनादि अनन्त
भाव से अमूर्त
गुण से वर्तन गुण

पुद्गलास्तिकाय— द्रव्य से अनन्त द्रव्य
क्षेत्र से लोकपरिमाण
काल से अनादि-अनन्त
भाव से मूर्त
गुण से ग्रहण गुण

जीवास्तिकाय— द्रव्य से अनन्त द्रव्य
क्षेत्र से लोकपरिमाण
काल से अनादि अनन्त
भाव से अमूर्त
गुण से उपयोग गुण

५. **गुण के दो प्रकार हैं—**

१. सामान्य गुण—अस्तित्व, द्रव्यत्व आदि
२. विशेष गुण—चेतनत्व, मूर्तत्व आदि

६. **पर्याय के दो प्रकार हैं—**

१. स्वभाव पर्याय   २. विभाव पर्याय

अथवा

१. अर्थ (अव्यक्त) पर्याय   २. व्यंजन (व्यक्त) पर्याय

७. **प्रमाण के दो प्रकार हैं—**

१. प्रत्यक्ष   २. परोक्ष

८. **प्रत्यक्ष के दो प्रकार हैं—**

१. पारमार्थिक प्रत्यक्ष   २. सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष

९. **पारमार्थिक प्रत्यक्ष के तीन प्रकार हैं—**

१. अवधि   २. मनःपर्यव   ३. केवल

१०. **सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष (श्रुतनिश्रित मति) के चार प्रकार हैं—**

१. अवग्रह   ३. अवाय
२. ईहा   ४. धारणा

११. **परोक्ष के दो प्रकार हैं—**

१. मतिज्ञान   २. श्रुतज्ञान

१२. **मतिज्ञान (अश्रुतनिश्रितमति) के चार प्रकार हैं—**

१. औत्पत्तिकी बुद्धि   ३. कार्मिकी बुद्धि
२. वैनयिकी बुद्धि   ४. पारिणामिकी बुद्धि

१३. **श्रुतज्ञान के चौदह प्रकार हैं—**

१. अक्षर श्रुत   ८. अनादिश्रुत
२. अनक्षर श्रुत   ९. सपर्यवसितश्रुत
३. संज्ञिश्रुत   १०. अपर्यवसितश्रुत
४. असंज्ञिश्रुत   ११. गमिकश्रुत
५. सम्यक्श्रुत   १२. अगमिकश्रुत
६. मिथ्याश्रुत   १३. अंगप्रविष्ट श्रुत
७. सादिश्रुत   १४. अनंगप्रविष्टश्रुत

१४. आगम के दो प्रकार हैं—

१. अंगप्रविष्ट
२. अंग बाह्य

१५. अंगप्रविष्ट (द्वादशांगी) के बारह प्रकार हैं—

१. आचारांग
२. सूत्रकृतांग
३. स्थानांग
४. समवायांग
५. भगवती
६. ज्ञाताधर्मकथा
७. उपासकदशा
८. अन्तकृतदशा
९. अनुत्तरोपपातिकदशा
१०. प्रश्नव्याकरण
११. विपाकश्रुत
१२. दृष्टिवाद

१६. अंगबाह्य (उपांग) के बारह प्रकार हैं—

१. औपपातिक
२. राजप्रश्नीय
३. जीवाजीवाभिगम
४. प्रज्ञापना
५. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
६. चन्द्रप्रज्ञप्ति
७. सूर्यप्रज्ञप्ति
८. कल्पिका (निरयावलिका)
९. कल्पावतंसिका
१०. पुष्पिका
११. पुष्पचूलिका
१२. वृष्णिदशा

मूल चार हैं—

१. दशवैकालिक
२. उत्तराध्ययन
३. नन्दी
४. अनुयोगद्वार

छेद चार हैं—

१. निशीथ
२. व्यवहार
३. बृहत्कल्प
४. दशाश्रुतस्कन्ध

आवश्यक सूत्र छह विभाग वाला है—

१. सामायिक
२. चतुर्विंशतिस्तव
३. वन्दना
४. प्रतिक्रमण
५. कायोत्सर्ग
६. प्रत्याख्यान

१७. **प्रत्याख्यान के दस प्रकार हैं—**

१. नवकारसी
२. प्रहर
३. पुरिमार्द्ध
४. एकाशन
५. एकस्थान
६. निर्विगय
७. आयंबिल
८. उपवास (चउत्थभत्त)
९. दिवस चरिम
१०. अभिग्रह

१८. **व्यवहार के पांच प्रकार हैं—**

१. आगम
२. श्रुत
३. आज्ञा
४. धारणा
५. जीत

१९. **नय के सात प्रकार हैं—**

तीन द्रव्यार्थिक—

१. नैगम
२. संग्रह
३. व्यवहार

चार पर्यायार्थिक—

१. ऋजुसूत्र
२. शब्द
३. समभिरूढ़
४. एवंभूत

२०. **नय के दो प्रकार हैं—**

१. निश्चयनय
२. व्यवहारनय

२१. **निक्षेप के चार प्रकार हैं—**

१. नाम
२. स्थापना
३. द्रव्य
४. भाव

२२. **स्याद्वाद के सात प्रकार (सप्तभंगी) हैं—**

१. स्यात् अस्ति
२. स्यात् नास्ति
३. स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति
४. स्यात् अवक्तव्य
५. स्यात् अस्ति, स्यात् अवक्तव्य
६. स्यात् नास्ति, स्यात् अवक्तव्य
७. स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अवक्तव्य

२३. **नास्ति (अभाव) के चार प्रकार हैं—**

१. प्राग् अभाव
२. प्रध्वंस अभाव
३. इतरेतर अभाव
४. अत्यन्त अभाव

२४. **समवाय के पांच प्रकार हैं—**

१. काल
२. स्वभाव
३. कर्म
४. पुरुषार्थ
५. नियति

२५. **कारण के दो प्रकार हैं—**

१. उपादान (परिणामी)
२. निमित्त (सहकारी)

२६. **पर्युपासना के दस लाभ हैं—**

१. श्रवण
२. ज्ञान
३. विज्ञान
४. प्रत्याख्यान
५. संयम
६. अनाश्रव
७. तप
८. व्यवदान
९. अक्रिया
१०. सिद्धि



लेखक की प्रमुख कृतियां

समता की आंख : चरित्र की पांख
मुखड़ा क्या देखे दरपन में
जब जागे तभी सवेरा
लघुता से प्रभुता
बूंद भी : लहर भी
मेरा धर्म : केन्द्र और परिधि
गृहस्थ को भी अधिकार है धर्म करने का
खोए सो पाए
दोनों हाथ एक साथ
राजपथ की खोज
कुहासे में उगता सूरज
बीती ताहि विसारि दे
अतीत का विसर्जन : अनागत का स्वागत
क्या धर्म बुद्धिगम्य है ?
प्रेक्षा : अनुप्रेक्षा
सफर : आधी शताब्दी का
जीवन की सार्थक दिशाएं
कालूयशोविलास
सोमरस
माणक महिमा
डालिम चरित्र
मगन चरित्र
चन्दन की चुटकी भली
भरत मुक्ति
पानी में मीन पियासी
अणुव्रत गीत
अणुव्रत : गति-प्रगति
अणुव्रत के आलोक में
अनैतिकता की धूप : अणुव्रत की छतरी
मनोनुशासनम्
विचार-दीर्घा
उद्बोधन
जैन सिद्धान्त दीपिका
हस्ताक्षर
आदि-आदि